

February 2020

Bulletin of Sri Aurobindo
International Centre of Education

श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र पत्रिका

(हिन्दी-विभाग)

फ़रवरी २०२०



श्रीअरविन्द आश्रम
पॉण्डिचेरी, भारत

बुलेटिन फ़रवरी २०२०

विषय-सूची

'पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति'

शरीर की पूर्णता	श्रीअरविन्द	३
डॉ. सत्येन्द्र को जन्मदिन पर दिये सन्देश		११
श्रीमाँ के वचन		१४
११ जनवरी १९६७ का वार्तालाप	'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११ से	१७
एक ही पथ	श्रीअरविन्द	१९
१९ मार्च १९५८ का वार्तालाप	'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९ से	२१
श्रीअरविन्द के उत्तर (७५)		२४

‘पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति’

अपने अन्तिम गद्य-लेखनों में श्रीअरविन्द ने *Bulletin of Physical Education*—शारीरिक शिक्षण की पत्रिका—(जिसका बाद में नाम बदल कर *Bulletin of Sri Aurobindo International Centre of Education*—श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षाकेन्द्र-पत्रिका—कर दिया गया था) के लिए आठ लेख लिखे थे। यह त्रैमासिक पत्रिका फ़रवरी १९४९ में शुरू हुई थी। ये लेख १९४९ तथा १९५० के अंकों में प्रकाशित हुए थे। १९५० में श्रीअरविन्द के शरीर-त्याग के साथ यह कड़ी टूट गयी। बाद में १९५२ में *पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति* के नाम से यह पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुई।

शरीर की पूर्णता

शरीर की पूर्णता ही, अभी हमें जो साधन प्राप्त हैं उनके द्वारा जितनी अधिक पूर्णता प्राप्त करना हमारे लिए सम्भव हो उतनी पूर्णता प्राप्त करना ही शारीरिक अनुशीलन का अन्तिम उद्देश्य होना चाहिये। पूर्णता ही सब प्रकार के अनुशीलनों का, आध्यात्मिक और आन्तरात्मिक, मानसिक तथा प्राणिक अनुशीलनों का सच्चा उद्देश्य है और यही हमारे शारीरिक अनुशीलन का भी उद्देश्य होना चाहिये। अगर हम अपनी सत्ता की सर्वांगीण पूर्णता सिद्ध करने का प्रयास करते हों तो हम उसके भौतिक अंग की, शरीर की उपेक्षा नहीं कर सकते; क्योंकि शरीर ही भौतिक आधार है, शरीर ही वह साधन है जिसका हमें उपयोग करना है। एक प्राचीन संस्कृत उक्ति है कि ‘शरीरं खलु धर्मसाधनम्’, शरीर ही धर्म की सिद्धि का साधन है, और धर्म का अर्थ है वह प्रत्येक आदर्श जिसे हम अपने सामने रखते हैं और उस आदर्श को कार्यान्वित करने का नियम और उसकी क्रियावली। सर्वांगीण पूर्णता ही वह अन्तिम उद्देश्य है जिसे हमने अपने सामने रखा है और हमारा आदर्श है, ‘दिव्य जीवन’, जिसे हम यहाँ सृष्ट करना चाहते हैं,—वह दिव्य जीवन जो पृथ्वी पर संसिद्ध—अभिव्यक्त आत्मा का जीवन है, वह जीवन जो यहाँ, इस पृथ्वी पर, जड़-जगत् की अवस्थाओं के अन्दर ही अपना आध्यात्मिक रूपान्तर सिद्ध कर रहा है। यह कार्य तब तक नहीं हो सकता जब तक शरीर भी रूपान्तरित नहीं हो जाता, जब तक इसके कार्य और इसकी प्रवृत्तियाँ उस चरम क्षमता और पूर्णता को नहीं प्राप्त हो जातीं जिन्हें प्राप्त करना इसके लिए सम्भव है, अथवा जिन्हें प्राप्त करना सम्भव बनाया जा सकता है।

मैं पहले अपने एक सन्देश में बतला चुका हूँ कि हमने इस आश्रम में जिस शारीरिक अनुशीलन की ओर विशेष रूप से ध्यान देना और जिसका अनुसरण करने के लिए विशेष अवसर प्रदान करना आरम्भ किया है, उसके अभ्यासों और व्यायामों का एक सुन्दर परिणाम यह होगा कि शरीरस्थ भौतिक चेतना और उस चेतना के अन्दर रहने वाले मन, प्राण और गुणसमूह एक आपेक्षिक पूर्णता को प्राप्त कर लेंगे और यह लाभ किसी अंश में शरीर की

अपनी निजी क्षमताओं के जागरण और विकास से कम नहीं होगा। शारीरिक चेतना का विकास हमेशा ही हमारे उद्देश्य का एक प्रधान अंग होना चाहिये, परन्तु उसकी सिद्धि के लिए स्वयं शरीर का समुचित विकास भी अत्यन्त आवश्यक चीज़ है; स्वास्थ्य, सामर्थ्य और योग्यता सबसे पहली ज़रूरी चीज़ें हैं, पर स्वयं स्थूल ढाँचा भी यथासम्भव उत्तम होना चाहिये। जड़-भौतिक जगत् में दिव्य जीवन प्राप्त करने का अनिवार्य रूप से अर्थ ही होता है, सत्ता के दो छोरों का—अध्यात्म-शिखर और स्थूल आधार का—एकत्व। जड़-तत्त्व पर स्थापित जीवन को अपना आधार बना कर आत्मा आत्मा की ऊँचाइयों पर आरोहण करती है, पर वह अपने आधार का त्याग नहीं करती, वह उस ऊँचाई और इस गहराई को एक साथ जोड़ देती है। आत्मा अपनी समस्त ज्योति और महिमा और शक्ति के साथ जड़तत्त्व और स्थूल जगत् के अन्दर नीचे उतर आती है और जड़-जगत् के जीवन को अपनी ज्योति, महिमा और शक्ति से भर देती और रूपान्तरित कर देती है जिससे कि वह अधिकाधिक दिव्य होती जाये। रूपान्तर का अर्थ शुद्ध रूप से किसी ऐसी सूक्ष्म और आध्यात्मिक चीज़ में परिवर्तित हो जाना नहीं है जिससे जड़तत्त्व स्वभावतः ही विरोध का भाव रखता हो और जो जड़तत्त्व को बाधा या आत्मा को बाँधने वाली शृंखला समझती हो; रूपान्तर जड़तत्त्व को आत्मा का एक स्वरूप समझ कर—यद्यपि अभी एक ऐसा स्वरूप जो आत्मा को छिपाता है—ग्रहण करता है और उसे आत्मा को अभिव्यक्त करने वाले एक साधन के रूप में बदल देता है; वह जड़तत्त्व की शक्तियों, उसकी क्षमताओं और उसकी पद्धतियों का त्याग नहीं करता; वह उनकी गुप्त सम्भावनाओं को प्रकट करता है, उन्नत करता है, शुद्ध करता है और उनके स्वभावगत दिव्यत्व को प्रस्फुटित कर देता है। दिव्य जीवन किसी भी ऐसी चीज़ का त्याग नहीं करेगा जो दिव्य बनने के योग्य हो; सभी चीज़ों को हाथ में लेना होगा, समुन्नत करना होगा और एकदम पूर्ण बनाना होगा। हमारा मन, जो यद्यपि ज्ञान प्राप्त करने के लिए संघर्ष तो करता है, पर अभी तक है अज्ञानपूर्ण ही, उसे अतिमानसिक ज्योति और सत्य की ओर ऊपर उठना होगा और उसमें प्रवेश करना होगा और उसे नीचे उतार लाना होगा जिसमें वह हमारी चिन्तनशक्ति और बोधशक्ति और अन्तर्दृष्टि और हमारे ज्ञानार्जन के सभी साधनों को तब तक आप्लावित कर रखे जब तक वे अपने अत्यन्त आभ्यान्तरिक और अत्यन्त बाहरी क्रियाओं में उच्चतम सत्य से उद्भासित नहीं हो जाते। हमारी प्राणशक्ति, जो अभी तक अन्धकार और अस्तव्यस्तता से परिपूर्ण है और इतने अधिक नीरस और निम्नतर उद्देश्यों में व्यस्त है, उसे अपनी समस्त प्रवृत्तियों और सहज प्रेरणाओं को उन्नीत और आलोकित अनुभव करना होगा तथा ऊपर की अतिमानसिक परा-प्राणशक्ति की ही एक महिमामयी प्रतिमूर्ति बन जाना होगा। भौतिक चेतना और भौतिक सत्ता को, स्वयं शरीर को जो कुछ यह है और करता है, उस सबमें एक ऐसी पूर्णता प्राप्त करनी होगी जिसकी अभी हम कोई कल्पना तक नहीं कर सकते। यह भी अन्त में ऊर्ध्व के एक प्रकाश, सौन्दर्य और आनन्द से ओतप्रोत हो सकता है और दिव्य जीवन दिव्य शरीर ग्रहण कर सकता है।

परन्तु सबसे पहले प्रकृति का क्रमविकास एक ऐसे बिन्दु पर अवश्य पहुँच जाना चाहिये

जहाँ प्रकृति सीधे आत्मा के साथ युक्त हो सके, आध्यात्मिक परिवर्तन की अभीप्सा को अपने अन्दर अनुभव कर सके और उस दिव्य शक्ति की ओर उद्घाटित हो सके जो उसका रूपान्तर साधित करेगी। चरम परिपूर्णता, सर्वांगीण परिपूर्णता प्राप्त करना केवल तभी सम्भव है जब हमारी निम्नतर अथवा मानव-प्रकृति का रूपान्तर हो जाये, हमारा मन रूपान्तरित होकर ज्योति की एक वस्तु बन जाये, हमारा प्राण शक्ति की एक वस्तु, समुचित क्रिया का, अपनी समस्त शक्तियों के समुचित व्यवहार का, अपनी सत्ता के प्रसन्नतापूर्ण उन्नयन का एक यन्त्र बन जाये और उस उन्नयन के फलस्वरूप अपनी वर्तमान अपेक्षाकृत संकीर्ण शक्तिमत्ता से परे उठ कर वह कर्म और जीवनानन्द की एक आत्मपरिपूर्णता लाने वाली शक्ति के अन्दर पहुँच जाये। उसी तरह, शरीर के कार्यों, उसकी क्रियाओं, उसकी क्षमताओं का भी रूपान्तर होना चाहिये जिससे शरीर रूपान्तरित होकर अपनी उन सीमाओं को अतिक्रम करने वाला एक यन्त्र बन जाये जिनसे वह आज अपनी बड़ी-से-बड़ी मानव-सिद्धियों में भी सीमित और बद्ध हो रहा है। यह जो हमें सर्वांगीण परिवर्तन सिद्ध करना है उसके लिए हमें मानव-साधनों और शक्तियों को भी अपनाना होगा, उन्हें छोड़ना नहीं होगा बल्कि उन्हें नवीन जीवन के अंग के रूप में व्यवहृत करना होगा और उनमें अधिक-से-अधिक जितनी सम्भावना हो उतना उन्हें विकसित करना होगा। मन और प्राण की अपनी वर्तमान मानव-शक्तियों को उन्नत कर इसी पृथ्वी पर प्राप्त होने वाले दिव्य जीवन के अंग के रूप में बदल देने की बात को हम बिना किसी कठिनाई के समझ सकते हैं; परन्तु भला हम शरीर की पूर्णता की कल्पना किस रूप में कर सकते हैं?

प्राचीन काल में आध्यात्मिक साधक शरीर को एक बाधा समझते थे, एक ऐसी चीज़ समझते थे जिसे आध्यात्मिक परिपूर्णता का साधन और आध्यात्मिक परिवर्तन का क्षेत्र बनाने की अपेक्षा अतिक्रम कर जाना और त्याग देना ही अधिक समीचीन हो। वे लोग जड़तत्त्व की स्थूलता के रूप में, एक अलंघ्य बाधा के रूप में, शरीर की निन्दा करते और शरीर की सीमाओं को एक अपरिवर्तनीय और रूपान्तर को असम्भव बनाने वाली चीज़ समझते थे। इसका कारण यह है कि अपनी अच्छी-से-अच्छी अवस्था में भी मानव-शरीर केवल एक प्रकार की प्राणशक्ति के द्वारा परिचालित होता हुआ प्रतीत होता है जिसकी अपनी सीमाएँ हैं और जो अपनी छोटी-छोटी शारीरिक क्रियाओं में बहुत कुछ उन चीज़ों से विकृत हो जाती है जो अत्यन्त तुच्छ या भद्दी या बुरी होती हैं, स्वयं शरीर भी जड़तत्त्व की तामसिकता और अचेतनता से भाराक्रान्त है, वह केवल अंशतः ही जाग्रत् है और, यद्यपि एक प्रकार की स्नायविक क्रिया के द्वारा उसमें थोड़ी तेज़ी और सजीवता आती है, फिर भी वह अपने उपादानस्वरूप कोषों और तन्तुओं के मूलगत कार्यों और उनकी गुप्त क्रियाओं में अवचेतन ही है। अपने पूर्णतम सामर्थ्य और बल तथा अपने सौन्दर्य की महत्तम महिमा में भी यह है स्थूल निश्चेतना का ही एक पुष्प; निश्चेतना ही वह मिट्टी है जिसमें से यह निकला है और यह पग-पग पर अपनी शक्तियों के विस्तार और मूलगत आत्मातिक्रमण के किसी भी प्रयास के विरुद्ध एक संकीर्ण चौहद्दी बाँध देता है। परन्तु इस पृथ्वी पर यदि कोई दिव्य जीवन प्राप्त करना सम्भव हो तो फिर यह आत्मातिक्रमण भी

अवश्य सम्भव होना चाहिये।

हम पूर्णता की अपनी खोज को अपनी सत्ता के क्षेत्र के दोनों छोरों में से किसी एक से आरम्भ कर सकते हैं और फिर हमें, कम-से-कम आरम्भ में, उन्हीं साधनों और प्रक्रियाओं का उपयोग करना होगा जो हमारी पसन्द के अनुकूल हों। योग में जो प्रक्रिया व्यवहृत होती है वह आध्यात्मिक और आन्तरात्मिक होती है; यहाँ तक कि उसकी प्राणिक और शारीरिक प्रक्रियाओं को भी एक आध्यात्मिक या आन्तरात्मिक रूप दे दिया जाता है और उन्हें एक ऐसी गति-प्रवृत्ति में ऊपर उठा दिया जाता है जो साधारण प्राण और जड़तत्त्व से सम्बन्ध रखने वाली गति से अधिक ऊँची होती है, जैसे कि हठयोग और राजयोग में प्राणायाम या आसनो का व्यवहार किया जाता है। साधारणतया मन, प्राण और शरीर को पहले से तैयार करने की आवश्यकता होती है जिसमें वे आध्यात्मिक शक्ति को ग्रहण करने तथा आन्तरात्मिक शक्तियों और पद्धतियों को सुसंगठित करने के योग्य बनाये जा सकें, परन्तु इसे भी योग के अनुकूल एक विशिष्ट रूप दे दिया जाता है। दूसरी ओर, अगर हम निम्नतर छोर के किसी क्षेत्र से अपना प्रयास आरम्भ करें तो हमें उन साधनों और प्रक्रियाओं का उपयोग करना होता है जिन्हें प्राण और जड़तत्त्व हमें प्रदान करते हैं और हमारे ऊपर प्राणशक्ति और स्थूल भौतिक शक्ति जो अवस्थाएँ लादती और तथाकथित जो भी कला-कौशल ग्रहण करने को बाध्य करती हैं, उनका आदर करना होता है—उन्हें मानना और अपनाना होता है। हम अपनी क्रियाओं को, सिद्धियों को, प्राप्त परिपूर्णता को मूल रूप से परे, यहाँ तक कि साधारण सम्भावनाओं से भी परे विस्तारित कर सकते हैं, पर फिर भी हमें उसी आधार पर खड़ा रहना होता है जहाँ से हमने आरम्भ किया था और उसी चौहद्दी के भीतर रहना होता है जिसे वह हमें प्रदान करता है। यह बात नहीं है कि दोनों छोरों की क्रियाएँ परस्पर युक्त नहीं हो सकतीं और उच्चतर निम्नतर पूर्णता को अपने अन्दर नहीं ले सकता और उसे ऊपर नहीं उठा सकता; परन्तु सामान्यतः यह केवल तभी हो सकता है जब मनुष्य निम्नतर से ऊपर उठ कर किसी उच्चतर दृष्टिकोण, अभीप्सा और लक्ष्य की ओर चला जाये; और अगर हमारा उद्देश्य मानव-जीवन को दिव्य जीवन में रूपान्तरित करना हो तो हमें इसे करना ही होगा। परन्तु यहाँ इसे करने के लिए यह आवश्यक है कि मानव-जीवन की समस्त प्रवृत्तियों को ग्रहण किया जाये और आत्मा की शक्ति से उन्हें शुद्ध और समुन्नत किया जाये। यहाँ पर निम्नतर पूर्णता लुप्त नहीं हो जायेगी; वह रहेगी पर वह उस उच्चतर पूर्णता के द्वारा विस्तारित और रूपान्तरित हो जायेगी जिसे केवल आत्मा की शक्ति ही प्रदान कर सकती है। अगर हम कविता और कला, दार्शनिक विचार, लिखित शब्द की पूर्णता या पार्थिव जीवन के पूर्ण संगठन आदि की बातों पर विचार करें तो यह बात सहज ही समझ में आ सकती है; कविता, कला इत्यादि इन सभी चीज़ों को ग्रहण करना होगा और इन सब विषयों में जो सब सम्भावनाएँ प्रकट हो चुकी हैं या जितनी भी पूर्णता अब तक प्राप्त हो चुकी है उसको एक नवीन और महत्तर पूर्णता के अन्दर समाविष्ट करना होगा, पर करना होगा आध्यात्मिक चेतना की विशालतर अन्तर्दृष्टि और अन्तर्ज्ञान के साथ और नवीन रूपों और शक्तियों के साथ। ठीक

यही चीज़ शरीर की पूर्णता के विषय में भी करनी होगी।

जो चीज़ मूलतः आध्यात्मिक खोज है उसके अन्दर यदि हम प्राण और जड़तत्त्व को स्वीकार करें, उनका त्याग और अन्त में एकदम बहिष्कार न करें, जैसा कि सांसारिक जीवन से दूर रहने वाली या मुँह मोड़ने वाली एक प्रकार की आध्यात्मिकता का मनोभाव रहा है, तो उससे कुछ ऐसी बातें उत्पन्न हो जाती हैं जिन्हें पुराने ढंग की आध्यात्मिक संस्था अपने उद्देश्य के विरुद्ध समझ सकती है। परन्तु इसी संसार में प्राप्त होने वाला दिव्य जीवन या ऐसे जीवन को अपना लक्ष्य और उद्देश्य बनाने वाली कोई संस्था ऐसी चीज़ नहीं हो सकती या बनी रह सकती जो जगत् के साधारण मनुष्यों के जीवन से बाहर हो या उसके लिए एकदम बन्द हो अथवा जिसका सांसारिक जीवन के साथ कोई सम्बन्ध न हो; उसे संसार में ही भगवान् का कार्य करना होगा और ऐसा कोई काम नहीं करना होगा जो संसार से बाहर या अलग हो। प्राचीन ऋषियों के आश्रमों में उनके जीवन के साथ संसार का एक ऐसा ही सम्बन्ध रहता था; वे ऋषि मनुष्यों के स्रष्टा, शिक्षक और पथ-प्रदर्शक होते थे और प्राचीन काल में भारतीय जनता का जीवन अधिकांश में उन्हीं के निर्माणकारी प्रभाव के द्वारा विकसित और परिचालित होता था। इस नवीन प्रभाव से प्रभावित जीवन और कार्यों के विषय में ठीक वही बात नहीं कही जा सकती, पर उन्हें भी संसार के ऊपर की जाने वाली एक क्रिया और उसके अन्दर की जाने वाली एक नयी सृष्टि होना ही होगा। इस सृष्टि को संसार के साथ और उन क्रियाओं के साथ संस्पर्श और सम्बन्ध बनाये रखना होगा जो साधारण जीवन में घटित होती हैं और जिनका मूल या प्रधान उद्देश्य बाह्य जगत् में होने वाली उन्हीं क्रियाओं के उद्देश्य से भिन्न न मालूम होता हो। यहाँ, हमारे आश्रम में, यह आवश्यक समझा गया कि आश्रमनिवासी साधकों के बच्चों की शिक्षा के लिए एक विद्यालय स्थापित किया जाये जो उसी प्रचलित पद्धति से, यद्यपि कुछ परिवर्तनों के साथ, शिक्षा दे और बच्चों के विकास के अंग के रूप में और प्रमुख अंग के रूप में एक विशाल शारीरिक शिक्षण को अंगीकार करे। इसी विद्यालय के शारीरिक शिक्षण ने उन खेल-कूदों और व्यायामों को जन्म दिया है जिनका अभ्यास आश्रम के खिलाड़ी-युवक करते हैं और यह पत्रिका उन्हीं की अभिव्यक्ति है। कुछ लोगों ने यह प्रश्न उठाया है कि भला आध्यात्मिक साधकों के लिए निर्मित आश्रम में खेल-कूदों को कौन-सा स्थान मिल सकता है और आध्यात्मिकता तथा खेलों में क्या सम्बन्ध हो सकता है। इसका एक उत्तर तो उस बात के अन्दर आ जाता है जिसे मैंने मनुष्यों की साधारण क्रियाओं के साथ इस तरह की संस्था के सम्बन्ध के विषय में अभी ऊपर लिखा है तथा जिसे इस पत्रिका के पिछले अंक में एक राष्ट्र के जीवन के लिए ऐसे शिक्षण की उपयोगिता और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के लिए इसके लाभों के विषय में लिखा है। इसका दूसरा उत्तर हमारे सामने तब प्रकट हो सकता है जब हम अपनी दृष्टि को पहले उद्देश्य के परे ले जायें और उसे एक सर्वांगीण पूर्णता की अभीप्सा की ओर मोड़ दें जिसमें शरीर की पूर्णता भी शामिल हो।

यह स्पष्ट है कि जब हम आश्रम के जीवन में खेल-कूदों और शारीरिक व्यायाम-जैसी

क्रियाओं को सम्मिलित करते हैं तब उनकी पद्धतियाँ और उनसे सिद्ध होने वाले प्रथम उद्देश्य उसी स्तर के होंगे जिसे हम सत्ता का निम्नतर छोर कहते हैं। मूलतः आश्रम-पाठशाला के बच्चों की शारीरिक शिक्षा और शारीरिक विकास के लिए इन चीज़ों को आरम्भ किया गया है और ये बच्चे इतने छोटे हैं कि अभी ये अपनी क्रियाओं में किसी विशुद्ध आध्यात्मिक उद्देश्य या साधना को शामिल नहीं कर सकते और यह बात भी निश्चित नहीं कि उनमें से अधिकतर जब अपने भावी जीवन की दिशा को पसन्द करने-योग्य अवस्था को प्राप्त होंगे तब वे आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश ही करेंगे। इस विषय में हमारा उद्देश्य होना चाहिये, शरीर को प्रशिक्षित करना और मन तथा चरित्र के कुछ अंशों को वहाँ तक विकसित करना जहाँ तक इस शिक्षण के द्वारा या इससे सम्बन्ध रख कर किया जा सके, और मैंने 'बुलेटिन' के पिछले एक अंक में यह दिखलाया है कि किस तरह और किस हद तक यह किया जा सकता है। इन सीमाओं के अन्दर केवल आपेक्षिक और मानवोचित पूर्णता ही प्राप्त की जा सकती है; इससे महत्तर कोई चीज़ केवल तभी सिद्ध की जा सकती है जब उच्चतर शक्तियाँ, अन्तरात्मा की शक्तियाँ, आत्मा की शक्तियाँ आकर हस्तक्षेप करें। फिर भी, मानव-चौहद्दी के अन्दर जो कुछ भी प्राप्त किया जा सकता है वह बहुत अधिक और कभी-कभी अपरिमित हो सकता है; जिसे हम प्रतिभा कहते हैं वह सत्ता के मानव-क्षेत्र के विकास का ही एक अंग होता है और उस क्षेत्र की प्राप्ति, विशेषकर मन-बुद्धि और संकल्प-शक्ति से सम्बन्ध रखने वाली चीज़ें, हमें दिव्यता की ओर आधी दूर तक ले जा सकती हैं। मन और संकल्प-शक्ति स्वयं शरीर के क्षेत्र में शरीर के द्वारा जो कुछ कर सकती हैं, शारीरिक सिद्धि के क्षेत्र में जो कुछ प्राप्त कर सकती हैं, शरीर को सहनशक्ति, सब प्रकार के वीरता के कार्य, थकना या हारना अस्वीकार कर निरन्तर कार्य करते रहना और आरम्भ में जितना सम्भव प्रतीत होता हो उसके परे कार्य जारी रखना, साहस और अन्तहीन तथा घातक दैहिक दुःख-कष्ट के सामने झुकने से अस्वीकार कर देना इत्यादि तथा बहुत तरह की अन्यान्य जीतें मानव-क्षेत्र में आश्चर्यजनक अवस्था के समीप पहुँचती हुई या प्राप्त होती हुई देखी जाती हैं और उन्हें भी हमें सर्वांगीण पूर्णता की अपनी कल्पना का अंग समझना होगा। फिर युद्ध और यात्रा और दुस्साहसिक कार्यों की आवश्यकतावश अत्यन्त कठिन और निराशापूर्ण परिस्थितियों में मनुष्य के सामने जो भी प्रश्न अनिवार्य रूप से उपस्थित होते हैं, उनका उत्तर मनुष्य का शरीर, मन और प्राणशक्ति निरन्तर और निस्संकोच रूप से दे सकते हैं और उनका यह कार्य भी उसी तरह की एक चीज़ है और उनकी सहनशीलता अत्यन्त आश्चर्यजनक परिणाम तक पहुँच सकती है और शरीर की निश्चेतना तक में अद्भुत ढंग से प्रत्युत्तर देने की क्षमता दिखायी दे सकती है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि शरीर निश्चेतना की सृष्टि है और यह स्वयं भी निश्चेतन है या कम-से-कम अपने स्वरूप के कुछ भागों में और अपनी अधिकांश गुप्त क्रियाओं में अवचेतन है; परन्तु जिसे हम निश्चेतना कहते हैं वह एक गुप्त चेतना का या एक अतिचेतना का—परात्पर चेतना का—जिसने इस अद्भुत वस्तु की सृष्टि की है जिसे हम विश्व कहते हैं,

एक बाहरी रूप, एक निवासस्थान, एक यन्त्र है। जड़तत्त्व क्षेत्र है और निश्चेतना की सृष्टि है, और निश्चेतन जड़तत्त्व की क्रियाओं की पूर्णता, किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए पूर्णता के साथ उनके साधनों का उपयोग करना, उनके द्वारा संसिद्ध अद्भुत कार्य और उनके द्वारा सृष्ट अद्भुत सौन्दर्य, ये सब—चाहे जितना भी अधिक हम उन्हें अस्वीकार क्यों न करें—इस जड़-जगत् के प्रत्येक भाग और क्रिया में इस अतिचेतना की उपस्थिति और चिच्छक्ति का वर्तमान रहना सिद्ध करते हैं। यह अतिचेतना इस शरीर में विद्यमान है, इसी ने इस शरीर को रचा है और हमारी चेतना में इसका प्रकट होना ही क्रमविकास का गुप्त लक्ष्य और हमारे अस्तित्व के रहस्य की कुञ्जी है।

व्यक्ति की शिक्षा के लिए—जिसका अर्थ होना चाहिये उसकी वास्तविक और प्रसुप्त सम्भावनाओं को अधिक-से-अधिक मात्रा में विकसित और प्रकट करना—उसके बचपन की और पहली जवानी की अवस्था में खेल-कूद और शारीरिक व्यायाम-जैसी प्रक्रियाओं का उपयोग करने पर हमें जिन साधनों और पद्धतियों का व्यवहार करना पड़ता है, वे शरीर के स्वभाव के द्वारा सीमित होती हैं और इसलिए उस शिक्षा का उद्देश्य होगा, शरीर की शक्तियों और क्षमताओं को तथा मन, संकल्प और चरित्र की शक्तियों और विशेषताओं को, जिनकी क्रिया का क्षेत्र और साधन दोनों ही यह शरीर है, जहाँ तक ये पद्धतियाँ सहायता कर सकें वहाँ तक, विकसित करना और आपेक्षिक मानव पूर्णता प्राप्त करना। मैं इस विषय में पर्याप्त मात्रा में लिख चुका हूँ कि मानसिक और नैतिक अंश की परिपूर्णता प्राप्त करने में ये सब प्रयास कहाँ तक सहायक हो सकते हैं और अब फिर उन्हें यहाँ दोहराने की कोई आवश्यकता नहीं। स्वयं शरीर के क्षेत्र में इन सब साधनों के द्वारा जो पूर्णताएँ विकसित की जा सकती हैं वे हैं, शरीर के स्वाभाविक गुणों और क्षमताओं की पूर्णता और दूसरे, अभ्यास के द्वारा इसे साधारण तौर पर इस योग्य बनाना कि मन और संकल्प-शक्ति इससे जो कार्य कराना चाहें, प्राणशक्ति इसे जिस कार्य में नियुक्त करे या हमारी प्रकृति का अज्ञात लेकिन बड़ा ही आवश्यक अंग तथा प्रतिनिधिस्वरूप—जो हमारी सूक्ष्म भौतिक सत्ता है—उसके सक्रिय अनुभव, आवेग और सहज प्रेरणाएँ जिन कार्यों में प्रवृत्त करें, उन सबको पूर्ण करने का यह एक यन्त्र बन सके। स्वास्थ्य और सामर्थ्य का होना शरीर की स्वाभाविक पूर्णता के लिए सबसे पहली आवश्यक अवस्था है, और केवल मांसपेशियों की सबलता, अंग-प्रत्यंगों की ठोस शक्ति तथा शरीर की सहनशक्ति ही नहीं, बल्कि सूक्ष्म, सजग, नमनीय और उपयोगी शक्ति का होना भी आवश्यक है जिसे हमारा स्नायुमण्डल और सूक्ष्म भौतिक अंग इस ढाँचे की क्रिया के अन्दर डाल सकते हैं। एक और भी अधिक क्रियाशील शक्ति है जिसे प्राणशक्तियों का आह्वान करके शरीर में ले आया जा सकता है और उसे महत्तर क्रियाओं के लिए जाग्रत् किया जा सकता है, यहाँ तक कि अत्यन्त असाधारण ढंग की करामातें दिखायी जा सकती हैं जिन्हें शरीर अपनी स्वाभाविक अवस्था में कभी दिखाने में समर्थ नहीं हो सकता। एक और शक्ति भी है जिसे हमारी मनःशक्ति और संकल्पशक्ति, उनकी जो माँग होती है, उनसे आने वाली जो उत्तेजना होती है उसके द्वारा तथा

उनकी जो गुप्त शक्तियाँ होती हैं, जिन्हें हम व्यवहृत करते हैं या जिनके द्वारा, स्पष्ट रूप में यह जाने बिना ही कि उनकी क्रिया का मूल स्रोत क्या है, हम व्यवहृत होते हैं, उनके द्वारा, एक प्रभु और प्रेरक के रूप में शरीर को दे सकती या शरीर पर लाद सकती हैं।

इस तरह शरीर के जो स्वाभाविक गुण और शक्ति-सामर्थ्य जाग्रत्, सजीव और साधारण क्रिया के लिए अभ्यस्त किये जा सकते हैं उनके अन्दर सब प्रकार के शारीरिक कर्मों की दक्षता और दृढ़ता को, जैसे, दौड़ के अन्दर तेज़ी, युद्ध का कौशल, पहाड़ी लोगों की चतुराई और सहनशीलता, सैनिक, नाविक, यात्री या अन्वेषक के शरीर से, जो कुछ माँग की जाती है, जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं, अथवा सब प्रकार के दुस्साहसिक कार्यों में शरीर से जो आशा की जाती है, उन सबके प्रति निरन्तर और प्रायः असाधारण प्रत्युत्तर देने की क्षमता और जिन शारीरिक सिद्धियों के लिए मनुष्य अपने-आपको अभ्यस्त बना चुका है या जिनकी ओर विशेष रूप से वह अपनी संकल्पशक्ति के द्वारा या परिस्थिति के दबाव के द्वारा अग्रसर कर दिया जाता है, उनके समस्त विशाल क्षेत्र को भी अवश्य शामिल करना चाहिये। सबके लिए शरीर की एक साधारण स्वस्थता की भी माँग हम इस साधन से कर सकते हैं जो ऐसे सभी कार्यों का साधारण सिद्धान्त है, एक ऐसी स्वस्थता की माँग कर सकते हैं जिसे कुछ लोग या बहुत-से लोग प्राप्त कर चुके हैं पर जिसे हम एक विस्तारित और बहुमुखी शारीरिक शिक्षण और अभ्यास के द्वारा सबके लिए सुलभ बना सकें। इन सब क्रियाओं में से कुछ को हम खेल-कूद का नाम दे सकते हैं; इनमें से कुछ ऐसी हैं जिनके लिए खेल-कूद और शारीरिक व्यायाम उपयोगी तैयारी का काम कर सकते हैं। इनमें से कुछ क्रियाओं के लिए सम्मिलित रूप से कार्य करने, मिल-जुलकर क्रिया करने के अभ्यास और नियमानुवर्तिता की आवश्यकता होती है और उसके लिए हमारे शारीरिक व्यायाम हमें तैयार कर सकते हैं। अन्यान्य क्रियाओं में व्यक्तिगत उन्नत संकल्प-शक्ति, मन की चतुराई और शीघ्र समझने की शक्ति, प्राणशक्ति की शक्तिमत्ता और सूक्ष्म शरीर की प्रेरणाओं की बहुत अधिक आवश्यकता होती है और वे समुचित रूप से शिक्षा देने का भी काम कर सकती हैं। इन सब बातों को हमें शरीर की स्वाभाविक शक्ति और उसकी क्षमता के विषय में तथा मानव-मन और संकल्प-शक्ति की सेवा के लिए यन्त्ररूप में जो उसकी योग्यता है उसके सम्बन्ध में हमारी जो धारणा है, उसमें अवश्य शामिल करना चाहिये और इसलिए शरीर की जो सर्वांगीण पूर्णता की हमारी कल्पना है उसमें भी ग्रहण करना चाहिये।

—श्रीअरविन्द

डॉ. सत्येन्द्र को जन्मदिन पर दिये सन्देश

सत्येन्द्र को आशीर्वाद सहित

हृदय के पीछे का एक परदा, मन के ऊपर लगा हुआ ढक्कन हमें भगवान् से अलग करता है। प्रेम तथा भक्ति इस परदे को चीर देते हैं, मन की नीरवता में ढक्कन पतला होते-होते गायब हो जाता है।

—श्रीअरविन्द

सत्येन्द्र को आशीर्वाद सहित

“अभीप्सा करो, उचित मनोवृत्ति पर एकाग्र होओ तथा, चाहे जो भी कठिनाइयाँ हों, तुमने अपने सम्मुख जो लक्ष्य रखा है, उसे तुम अवश्य उपलब्ध करोगे।”

९ सितम्बर १९३६

—श्रीमाँ

वर दे कि आन्तरिक सूर्य मन को शान्त तथा प्रकाशित करे और हृदय को पूरी तरह जाग्रत करके उसका पथ-प्रदर्शन करे।

—श्रीअरविन्द

सत्येन्द्र को, मेरे आशीर्वाद सहित

मेरे प्रिय बालक, आशा करें कि यह वर्ष तुम्हारे लिए सर्वोच्च खोज का वर्ष हो।

९ सितम्बर १९३७

—श्रीमाँ

मन की नीरवता में अपने हृदय में तथा सर्वत्र 'भागवत' उपस्थिति के प्रति उद्घाटित होओ; स्थिर मन तथा हृदय में भगवान् उसी तरह दिखायी देते हैं जिस तरह स्थिर पानी में सूर्य।

—श्रीअरविन्द

दिन और रात 'उपस्थिति' निरन्तर मौजूद रहती है।

चुपचाप अन्दर की ओर मुड़ना पर्याप्त है और हम उसे खोज निकालते हैं।

इस साल इस अनुभव को अपना होने दो।

मेरे प्रिय बालक को प्रेम और आशीर्वाद।

९ सितम्बर १९३८

—श्रीमाँ

उच्चतर चेतना में उठो, ऐसा हो कि उसका प्रकाश तुम्हारी प्रकृति को नियन्त्रित तथा रूपान्तरित कर दे।

—श्रीअरविन्द

भागवत प्रेम तुम्हारा लक्ष्य हो।

शुद्ध प्रेम तुम्हारा पथ हो।

हमेशा अपने प्रेम के प्रति सच्चे रहो और सभी कठिनाइयों को जीत लिया जायेगा।

मेरे प्रिय बालक को प्रेम तथा आशीर्वाद सहित।

९ सितम्बर १९३९

—श्रीमाँ

हृदय के आत्मोत्सर्ग द्वारा निश्चेतना में भी 'उपस्थिति' और 'प्रभाव' बने रहेंगे तथा सत्ता के सभी स्तरों से होते हुए वे व्यक्ति की प्रकृति को सच्चे प्रकाश तथा चेतना के लिए तैयार करेंगे।

—श्रीअरविन्द

आज तुम्हारे लिए जो साल समाप्त हुआ, वह प्रगति का वर्ष था; यह वर्ष जो प्रगति से शुरू हुआ, उसे स्थायी, उत्तम तथा सम्पूर्ण बने रहना चाहिये।

मेरे प्रिय बालक को मेरे प्रेम तथा आशीर्वाद सहित।

९ सितम्बर १९४०

—श्रीमाँ

हमेशा आन्तरिक अभीप्सा पर बल दो; उसे अपने हृदय में गहराई तथा स्थिरता लाने दो; हृदय के बढ़ते हुए प्रेम तथा अभीप्सा के साथ-साथ मन तथा प्राण की बाहरी बाधाएँ अपने-आप कम होती जायेंगी।

—श्रीअरविन्द

मेरे प्रिय बालक,

जब कभी तुम्हें आध्यात्मिक सहायता की आवश्यकता होती है, मैं हमेशा उस सहायता को किसी भी रूप में देने के लिए उपस्थित होती हूँ।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

९ सितम्बर १९४१

—श्रीमाँ

मन तथा हृदय को खुला रखो तथा अन्दर और ऊपर की ऊपर मुड़ा हुआ रखो ताकि जब अन्दर से सम्पर्क आये या ऊपर से प्रवाह आये तब तुम उसे ग्रहण करने के लिए तैयार रहो।

—श्रीअरविन्द

मेरे प्रिय बालक,

ऐसा हो कि यह वर्ष तुम्हारे लिए सभी परिस्थितियों में मुस्कुराने की शक्ति ले आये। क्योंकि मुस्कान कठिनाइयों पर बादलों के ऊपर सूर्य के समान क्रिया करती है—वह कठिनाइयों

को तितर-बितर कर देती है।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

९ सितम्बर १९४२

—श्रीमाँ

प्रकाश की ओर मुड़ो और डटे रहो—इसी की सबसे अधिक माँग की जाती है। जितना हम सोचते हैं उससे कहीं अधिक प्रकाश हमारे निकट है और वह मुहूर्त किसी भी समय आ सकता है।

—श्रीअरविन्द

मेरे प्रिय बालक, इस वर्ष का कार्यक्रम यह रहा : अपनी पूरी सत्ता को अपनी उच्चतम चेतना में एकीकृत करो और ऐसा न हो कि तुम्हारा मन बेतरतीबी से इधर-उधर काम में लगा रहे। सन्देह कोई ऐसा खेल नहीं जिसे अदण्डित किये बिना खुल खेलने दिया जाये : यह एक विष है जो बूँद-बूँद करके आत्मा को नष्ट कर देता है।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

९ सितम्बर १९४३

—श्रीमाँ

अपनी आत्मा को 'भागवत कृपा' की ओर खुला रखो ताकि जब वह आये तुम उसे ग्रहण करने के लिए तैयार रहो।

—श्रीअरविन्द

'भागवत कृपा' मौजूद है—अपना द्वार खोलो और उसका सत्कार करो।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

९ सितम्बर १९४४

—श्रीमाँ

सबसे अधिक आवश्यकता है हमारे अन्दर तथा विश्व में किए जाने वाले कार्यों के लिए एक सुदृढ़ इच्छा-शक्ति की; तब आता है एक सुनिश्चित आध्यात्मिक परिणाम, चेतना का विकास और 'दिव्य प्रकाश' तथा 'शक्ति' के स्पर्श के लिए आत्मा की तत्परता।

—श्रीअरविन्द

मैं आशा करती हूँ कि जो शान्ति धरती पर लौटने की कोशिश कर रही है वह स्वयं को तुम्हारे हृदय में विजयी रूप से प्रतिष्ठित करे; ऐसी प्रार्थना मैं तुम्हारे जन्मदिन पर कर रही हूँ, मेरे आशीर्वाद के साथ।

९ सितम्बर १९४५

—श्रीमाँ

जब 'प्रकाश' उस 'निश्चेतना' में प्रवेश कर जाता है जो हमारी समस्त सत्ता के चारों ओर बाड़ की भाँति घेराबन्दी किये रहती है और जो हमारे अन्दर की सच्ची चेतना को अभिव्यक्त होने से रोकती या उस पर सीमा लगा देती है, जब वह 'प्रकाश' अभ्यासों और पुनरावर्तनों तथा उस समान उत्तेजना की सतत पुनरावृत्तियों का निषेध करता है जो हम पर घेरा डाले रहती हैं, केवल तभी हमारी प्रकृति पूरी तरह मुक्त हो सकती तथा ऊपर के 'सत्य' को प्रत्युत्तर दे सकती है।

—श्रीअरविन्द

“अपना स्वप्न छोड़ दूँगा मैं उज्ज्वल रजत-पवन में।
नील-स्वर्ण परिधान पहन कर ज्योति अलौकिक धारे
रूपान्तरित इसी पृथ्वी पर तब मनोज्ञ, मंगलमय
धर कर देह करेंगे विचरण जीवित सत्य तुम्हारे।”
मेरे प्रेम तथा आशीर्वाद के साथ।

श्रीअरविन्द की कविता 'एक देवता का श्रम' से

९ सितम्बर १९४६

—श्रीमाँ

श्रीमाँ के वचन

सच्चे-निष्कपट बनो, भागवत शान्ति की ओर यह पहला अनिवार्य क़दम है।

१६ अप्रैल १९५८

सच्चाई हमारा रक्षाकवच है।

१८ अप्रैल १९५८

जो गम्भीर और सच्चे हैं उनके साथ सखा के रूप में हमेशा भगवान् होते हैं।

मार्च १९६२

हमेशा सच्चे-निष्कपट रहो और भगवान् तुम्हारे साथ होंगे।

८ अक्टूबर १९६२

सच्चे, ईमानदार, एकाग्रचित्त बने रहो और अपनी अभीप्सा को कभी न भूलो।

सितम्बर १९६७

सच्चाई सफलता का माप है।

२२ अप्रैल १९६८

हमारी उत्तम सहायता है श्रद्धा—भगवान् सर्वदयामय हैं।
प्रेम तथा आशीर्वाद के साथ।

‘भागवत कृपा’ में श्रद्धा रखो; सभी चीज़ों के बावजूद वे—भगवान्—तुम्हें तुम्हारे सच्चे लक्ष्य की ओर ले जायेंगे।

‘भागवत कृपा’ हमेशा उपस्थित रहती है, लेकिन केवल सच्चे तथा निष्कपट के सामने ही उसकी उपस्थिति प्रकट होती है।

जब व्यक्ति स्वयं को बेफ़िक्री से ‘परम वास्तविकता’, ‘परम सत्ता’ के हवाले छोड़ देता है, बिना किसी हिसाब-किताब के अपनी समस्त सत्ता की उत्कण्ठा के साथ पूरी तरह ‘उन्हीं’ पर भरोसा करता है—यही है अहंकार से पिण्ड छुड़ाने का सबसे तेज़ तथा मूलभूत तरीका।

अपने मन को पूरी तरह से अपनी कठिनाई से हटा लो, ऐकान्तिक रूप से ऊपर से उतरते हुए ‘प्रकाश’ तथा ‘शक्ति’ पर एकाग्रचित्त रहो; अपने शरीर को प्रभु को सौंप दो, वे जो चाहें करें। अपनी सारी भौतिक सत्ता की पूरी-पूरी ज़िम्मेदारी ‘उनके’ हाथों में रख दो।

यही उपचार है।

मेरे आशीर्वाद के साथ।

५ मार्च १९५९

प्रयास करना छोड़ दो।

प्रगति करने की इच्छा का त्याग कर दो।

‘उपलब्धि’ के लिए अभीप्सा करना छोड़ दो।

सब कुछ का त्याग कर दो और पूरी सच्चाई के साथ परम प्रभु से कहो, **तेरी इच्छा पूर्ण हो।**

प्रेम तथा आशीर्वाद के साथ।

५ मार्च १९६३

हम (मानव सत्ताएँ) अपने अहंकार की सन्तुष्टि के लिए नहीं जी रहे, हम ‘प्रभु’ की इच्छा पूरी करने के लिए जी रहे हैं। लेकिन, ‘प्रभु’ की इच्छा को देख पाने और जानने के लिए हमें कामनाओं और अभिरुचियों से रहित होना चाहिये। अन्यथा हम अपने सीमित विचारों और

सिद्धान्तों को 'प्रभु की इच्छा' मान लेने की भूल कर बैठते हैं।

बँधे-बँधाये विचारों और पसन्दों से मुक्त, पूर्ण तथा समर्पित सच्चाई की प्रशस्त शान्ति में ही हम 'प्रभु की परम इच्छा' के लिए आवश्यक अवस्थाओं को उपलब्ध कर सकते हैं; और निर्भीक अनुशासन के द्वारा हमें इसे क्रियान्वित करना चाहिये।

आशीर्वाद।

३० अप्रैल १९७१

व्यक्ति जिससे प्रेम करता है उसी के सदृश पनपने लगता है।

समस्त जीवन, वास्तव में, 'प्रेम' है, लेकिन हमें यह सीखना चाहिये कि उसे कैसे जिया जाये।

१३ जुलाई १९६३

'भागवत प्रेम'—जहाँ कहीं उसे ग्रहण करने की सम्भावना होती है, वह तेज़ी से आ जाता है।

'भागवत प्रेम'—महान् विजेता है। एक दिन वह धरती पर शासन करेगा और उसकी शक्तिशाली क्रिया द्वारा सब कुछ परिवर्तित हो जायेगा।

उस दिवस के आगमन को शीघ्र लाने के लिए आओ हम कार्य करें।

तुम्हारे सहयोग पर भरोसा है।

शान्ति असीम होनी चाहिये, स्थिरता गभीर और अचल, अचञ्चलता अडिग तथा भगवान् पर विश्वास नित-वर्धनशील होना चाहिये।

अगस्त १९४५

शान्ति तब आयेगी जब तुम अपने विचारों को अपने-आपसे दूर हटा लोगे।

६ अप्रैल १९६५

शान्ति, जो बाहरी परिस्थितियों से एकदम स्वतन्त्र हो। भगवान् की ओर अधिक मुड़ो, सच्ची आन्तरिक शान्ति के लिए अभीप्सा करो और तुम्हें इतनी पर्याप्त शान्ति प्राप्त हो जायेगी कि बिना किसी विक्षोभ के तुम अपना कार्य करते रहोगे।

आशीर्वाद।

—श्रीमाँ

११ जनवरी १९६७ का वार्तालाप

किसी शिष्य ने यह शिकायत की कि कुछ लोग माताजी का समय प्रायः व्यर्थ के प्रश्नों में नष्ट करते हैं और ज़्यादा ज़रूरी दीखने वाले कामों के लिए कम ही समय बचता है। माताजी ने कहा :

यह ऐसा ही होना था, क्योंकि यह ऐसा ही है।

शायद यह एक पाठ है (यह एक संकेत है), लेकिन इसका कुछ उद्देश्य है। मुझे जो पाठ समझना चाहिये उसे मैं समझने की कोशिश कर रही हूँ। मैं धीरज रखना सीख रही हूँ, ओह ! कितना धीरज...। हमेशा ही विद्रोह, अपमान आदि होते रहते हैं। ये मेरे लिए बिलकुल शून्य हैं, और कभी-कभी तो ये बहुत मज़ेदार भी होते हैं। जब मैं स्वयं अपनी स्थिति में, करुणा की सच्ची स्थिति में होती हूँ तो इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। यह ऊपरी सतह पर एक लहरी भी नहीं पैदा करता, कुछ भी नहीं।

कल मुझसे यह पूछा गया था; मुझसे पूछा गया था कि अपमान, अपमानित अनुभव करना, आत्म-सम्मान का साधना में कोई स्थान है। सचमुच इसके लिए कोई स्थान नहीं है, यह तो जानी हुई बात है ! लेकिन मैंने इस गति को देखा है, वह बहुत स्पष्ट थी, मैंने देखा कि अहंकार के बिना, जब अहंकार न हो तब सत्ता के अन्दर यह शिकन **नहीं रह सकती**। मैं भूतकाल में काफ़ी पीछे गयी, एक ऐसे समय में जब मुझे यह चीज़ लगती थी (इसे बहुत वर्ष बीत गये), लेकिन अब यह किसी परायी चीज़ के रूप में भी नहीं है, अब यह असम्भव है। मेरी सारी सत्ता, यहाँ तक कि शरीर भी यह नहीं समझ पाता कि यह चीज़ क्या है (यह अजीब बात है); यह वैसी ही चीज़ है जब भौतिक रूप में कोई धक्का लगता है (*माताजी अपनी कोहनी पर एक खोंख दिखाती हैं*), उदाहरण के लिए, इस तरह, इससे अब ऐसा नहीं लगता जैसा चोट से लगता है, अब यह उस तरह नहीं लगता। बहुधा कुछ भी नहीं होता, यह दिखायी दिये बिना ही समग्र में जा मिलता है; लेकिन जब कुछ लगता भी है तो वह केवल एक छाप होता है—एक बहुत अधिक कोमल, बहुत घनिष्ठ छाप, एक ऐसी सहायता की जो अपने-आपको अनुभव करवाना चाहती है, एक ऐसे पाठ की जिसे सीखना है। लेकिन वह ऐसा नहीं होता जैसा कि मानसिक रीति से होता है जिसमें हमेशा एक ऐंठन-सी होती है; यह वैसी चीज़ नहीं होती। यह कुछ सीखने के लिए तुरन्त अपने-आपको देने वाली सत्ता के आत्म-निवेदन की तरह होता है। मैं कोषाणुओं की बात कर रही हूँ। यह बहुत मज़ेदार होता है। स्पष्ट है, अगर तुम इसे मानसिक रूप दो तो तुम्हें यह कहना होगा कि यह सभी वस्तुओं में भागवत 'उपस्थिति' की चेतना या प्रतीति है और इसकी विधि—सम्पर्क की विधि—उस स्थिति पर निर्भर करती है जिसमें तुम हो।

हाँ, यह शरीर की अनुभूति है।

और व्यक्तियों में, जब कभी उन्हें धक्का लगे या चोट लगे या कुछ ऐसा हो तो अहंकार का, अपने-आपको प्रदर्शित करते हुए अहंकार का स्पष्ट दर्शन होता है। वे कहते हैं: “यह दूसरा व्यक्ति है।” मैं यह न कहूँगी: “ओह! वह गुस्से में है,” या “ओह! यह व्यक्ति...” नहीं, उसका अहंकार है; नहीं, उसका अहंकार भी नहीं, **स्वयं अहंकार**, अहंकार तत्त्व—अहंकार तत्त्व जो अभी तक हस्तक्षेप करता है। यह बहुत मज़ेदार है, क्योंकि अहंकार मेरे लिए एक प्रकार की निर्वैयक्तिक सत्ता बन गया है, जब कि औरों के लिए वह उनके व्यक्तित्व की तीव्र अनुभूति होता है! उसकी जगह यह सत्ता की एक प्रणाली है (तुम उसे पार्थिव या मानवीय कह सकते हो) जो यहाँ या वहाँ या उधर न्यूनाधिक मात्रा में हर एक को व्यक्तित्व की भ्रान्ति देती है। यह बहुत मज़ेदार है।

जी हाँ, लेकिन मुश्किल यह है कि दूसरे लोग अपना पाठ नहीं सीखते, तब...

ओह! अगर वे पाठ सीख लेते तो सब कुछ जल्दी से बदल जाता।

तो परिणाम यह है कि आप पर हमला होता है, आपको निगला जाता है।

असम्भव!

आपका सारा समय ले लिया जाता है, आपका सारा...

वे मुझे निगल नहीं सकते! (हँसते हुए) मैं बहुत बड़ी हूँ!

फिर भी, भौतिक दृष्टि से आप अभिभूत हो जाती हैं।

मैंने देखा है कि अगर मैं प्रतिरोध करूँ तो चीज़ बिगड़ जाती है। अगर मेरे अन्दर तरलता का भाव हो तो टक्करें नहीं लगतीं। यह वही बात है जो इस खरोंच के बारे में है (*माताजी अपनी कोहनी दिखाती हैं*)। अगर तुम कड़े हो जाओ और चीज़ें प्रतिरोध करें तो तुम्हें चोट लगती है। यह ऐसी ही बात है, जैसे जो लोग गिरना जानते हैं वे गिरते हैं, और उनका कुछ भी नहीं टूटता; जब कि जो लोग गिरना नहीं जानते, वे ज़रा-सा गिरते ही कुछ तुड़ा बैठते हैं। यहाँ वही बात है। तुम्हें सीखना पड़ता है कि कैसे होना चाहिये... पूर्ण ऐक्य। ठीक करना, सीधा करना भी प्रतिरोध है। तो तुम जिसे आक्रमण कहते हो वह जारी रहे तो क्या होगा? बात मज़ेदार होगी, देखें! (*माताजी हँसती हैं*), चूँकि दूसरे लोग उसी स्थिति में नहीं हैं, इसलिए वे शायद तंग आ जायेंगे, परन्तु मैं असहाय हूँ! (*माताजी हँसती हैं*)।

व्यक्ति को हमेशा हँसना चाहिये, हमेशा। 'प्रभु' हँसते हैं और हँसते रहते हैं। 'उनका' हास्य इतना अच्छा है, इतना अच्छा है, प्रेम से इतना परिपूर्ण है। यह ऐसा हास्य है जो तुम्हें असाधारण मधुरता के साथ अपनी भुजाओं में भर लेता है!

मनुष्यों ने उसे भी विकृत कर दिया है—उन्होंने हर चीज़ विकृत कर दी है। (माताजी हँसती हैं)।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. ५६-५८

एक ही पथ

संसार में कुछ अदिव्य है, एक ऐसा भाग है जो अन्धकारमय प्रतीत होता है; मैंने श्रीमाँ से कहा कि श्रीमाँ के प्रकाश द्वारा यहाँ एक सत्य अभिव्यक्त होता है। एक और सत्य श्रीअरविन्द के प्रकाश द्वारा अभिव्यक्त होता है। ये दोनों दो अलग-अलग मार्ग हैं और लगता है कि एकदम दो छोरों पर स्थित हैं, लेकिन फिर भी कहीं ऊपर जाकर मिल जाते हैं।

अगर तुम ऐसे अजीबोगरीब और ग़लत विचारों के शिकंजे में अपने-आपको फँसे रहने की अनुमति देते रहोगे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि क्यों तुम अस्तव्यस्तता के घेरे में बन्द रहते हो और कोई भी स्थायी प्रगति करने में क्यों हमेशा कठिनाई का अनुभव करते हो।

माताजी की चेतना भागवत 'चेतना' है और उससे जो 'प्रकाश' निकलता है वह भागवत सत्य का प्रकाश है; वे जिस 'शक्ति' को नीचे उतार रही हैं वह भागवत 'सत्य' की शक्ति है। जो माताजी के प्रकाश को ग्रहण करता और स्वीकार करता तथा उसी में निवास करता है, वह सभी स्तरों पर—मानसिक, प्राणिक और भौतिक पर—सत्य को देखना प्रारम्भ कर देगा। जो कुछ अदिव्य है उसका वह त्याग कर देगा; अदिव्य है—मिथ्यात्व, अज्ञान, अन्धकारमयी शक्तियों का प्रमाद; वह सब अदिव्य है जो धुँधला है, जो श्रीमाँ के 'सत्य', उनके प्रकाश और उनकी शक्ति को मानने को अनिच्छुक है। इसी कारण मैं तुमसे हमेशा कहता हूँ कि श्रीमाँ के तथा उनके 'प्रकाश' और उनकी 'शक्ति' के साथ सतत सम्पर्क में बने रहो, क्योंकि तभी तुम अस्तव्यस्तता और अन्धकार से बाहर निकल कर उस 'सत्य' को पा सकते हो जो ऊपर से उतरता है।

जब हम एक विशेष अर्थ में माताजी के 'प्रकाश' अथवा मेरे 'प्रकाश' की चर्चा करते हैं, हम एक विशेष गुह्य क्रिया की बात कर रहे होते हैं—हम अमुक ज्योतियों की बात करते हैं जो अतिमानस से आती हैं।

इस क्रिया में माताजी का सफ़ेद 'प्रकाश' होता है जो पवित्र करता, ज्योतित करता, 'सत्य'

के समस्त सारतत्त्व और शक्ति को उतार लाता है और रूपान्तर को सम्भव बनाता है। वस्तुतः जो भी सत्य ऊपर से अवतरित होता है, उच्चतम भागवत 'सत्य' से आता है, वह माताजी का ही सत्य है। श्रीमाँ के पथ और मेरे पथ में कोई अन्तर नहीं है। हमलोगों का पथ एक है और हमेशा एक ही रहा है, वह पथ जो अतिमानसिक रूपान्तर और भागवत सिद्धि की ओर ले जाता है। न केवल अन्त में, बल्कि आरम्भ से ही एक ही पथ रहा है।

इस तरह के विभाजन और विरोध को रखने का प्रयास करना, यानी श्रीमाँ को एक ओर और मुझे दूसरी ओर—एकदम विपरीत या एकदम भिन्न तरफ़ —रखना, यह तो हमेशा 'मिथ्यात्व' की शक्तियों की चालाकी रही है जब वे किसी साधक को सत्य तक पहुँचने से रोकना चाहती हैं। अपने मन से इन सभी मिथ्यात्वों को निकाल बाहर करो।

यह जानो कि श्रीमाँ का प्रकाश और शक्ति 'सत्य' का प्रकाश और शक्ति हैं; हमेशा श्रीमाँ के प्रकाश और शक्ति के सम्पर्क में बने रहो, तभी तुम भागवत सत्य में विकसित हो सकते हो।
१० सितम्बर १९३१

मैं पूछना चाहता हूँ कि क्या श्रीमाँ के बारे में सोचना और भगवान् के बारे में सोचना एक ही है। मेरा मानना था कि जिसे हम श्रीअरविन्द का प्रकाश या अतिमानसिक प्रकाश कहते हैं वह भागवत उपलब्धि की ओर ले जाता है, जब कि श्रीमाँ की उपलब्धि पाना उस चेतना की उपलब्धि है जो श्रीअरविन्द के प्रकाश के साथ-साथ चलती है और उसके परे भी चली जाती है। अगर एक श्रीमाँ का प्रकाश है तो श्रीअरविन्द का प्रकाश क्या किसी और चीज़ की ओर ले जाता है, जैसे उपनिषद् के आदर्शों की ओर—'पुरुष' इत्यादि की सिद्धि की ओर? ये भेद कभी एक होते नहीं दीखते।

मैंने पहले भी लिखा है कि माताजी और मेरे बीच भेद करना और यह कहना कि हमारे भिन्न पथ हैं या हमारे भिन्न लक्ष्य हैं—एकदम से भ्रान्तिपूर्ण है। हमारा पथ समान है; हमारा लक्ष्य भी समान है—वह है, अतिमानसिक भगवान्।

२४ फ़रवरी १९३२

CWSA खण्ड ३२, पृ. ८०-८१

—श्रीअरविन्द

१९ मार्च १९५८ का वार्तालाप

... एक चीज़ बहुत स्पष्ट मालूम होती है, मानवजाति इतनी अधिक अतिक्रियाशीलता और व्यापक सन्नास के कारण आम तनाव—प्रयास में तनाव, कर्म में तनाव, यहाँ तक कि दैनिक जीवन में तनाव—की एक ख़ास अवस्था तक आ पहुँची है कि लगता है मानों पूरा मानव-समूह उस बिन्दु पर आ गया है जहाँ या तो यह प्रतिरोध से टूट-फूट जाये और एक नयी चेतना में उभर आये या फिर से अन्धकार और तमस् की खाई में जा गिरे।

यह तनाव इतना पूर्ण और व्यापक है कि, स्पष्ट ही, कहीं कुछ-न-कुछ तोड़ना ही पड़ेगा। यह इसी तरह चलता नहीं रह सकता। इसे जड़-पदार्थ में बल, चेतना और शक्ति के नये तत्त्व के अवमिश्रण का निश्चित संकेत माना जा सकता है जो अपने दबाव से ही यह विकट स्थिति उत्पन्न कर रहा है। उन्हीं पुराने साधनों की आशा बाहरी तौर पर की जा सकती है जिनका उपयोग 'प्रकृति' उथल-पुथल मचाने के लिए किया करती है; लेकिन एक नया गुण है जिसे सिर्फ़ श्रेष्ठवर्ग में ही देखा जा सकता है, पर यह श्रेष्ठवर्ग में भी काफ़ी फैला हुआ है—एक ही बिन्दु पर, दुनिया में एक ही जगह पर केन्द्रित नहीं है। दुनिया में सब जगह, सब देशों में इसकी विद्यमानता के संकेत मिलते हैं : नया, उच्चतर, उत्तरोत्तर प्रगतिशील समाधान पाने की प्रबल इच्छा, एक विशालतर, अधिक सर्वतोमुखी पूर्णता की ओर उठने का प्रयत्न।

कुछ अधिक व्यापक, विशालतर और शायद अधिक "समूहगत" विचार भी विकसित हो रहे हैं और जगत् में काम कर रहे हैं। और दोनों चीज़ें एक साथ हो रही हैं : एक अधिक विशाल और अधिक समूचे विनाश की सम्भावना, अनर्थ की सम्भावना को बेतहाशा बढ़ाता हुआ एक आविष्कार, ऐसा महा विध्वंस जैसा पहले कभी नहीं हुआ; दूसरी ओर, साथ-ही-साथ ऐसे कहीं अधिक उच्च और व्यापक विचारों और संकल्प के प्रयासों का जन्म, बल्कि आविर्भाव जिनकी सुनवायी होने पर वे अपने साथ पहले से अधिक विस्तृत, अधिक विशाल, अधिक सर्वांग और अधिक पूर्ण उपचार लायेंगे।

अधिकाधिक पूर्ण और दिव्य उपलब्धि की, ऊपर चढ़ते हुए विकास की रचनात्मक शक्तियों के और अधिकाधिक विनाशकारी, सशक्त रूप से विध्वंसकारी, एकदम से बेलगाम, पागल शक्तियों के बीच संघर्ष और विरोध कहीं अधिक प्रत्यक्ष और स्पष्ट रूप में दिखायी देता है, यह एक तरह की दौड़ या प्रतियोगिता है कि देखें, लक्ष्य तक पहले कौन पहुँचे। ऐसा लगता है कि सभी विरोधी, भगवद्-विरोधी शक्तियाँ, प्राण जगत् की शक्तियाँ धरा पर उतर आयी हैं, और इसे अपनी कर्म-भूमि बना रही हैं, साथ-ही-साथ इस पर एक नया जीवन लाने के लिए एक नयी, उच्चतर, अधिक बलशाली आध्यात्मिक शक्ति भी धरा पर उतरी है। इससे संघर्ष विकटतर, उग्रतर और अधिक दृष्टिगोचर हो उठता है, लेकिन साथ ही अधिक निर्णयात्मक भी लगता है। इसीलिए शीघ्र ही समाधान पा जाने की आशा की जा सकती है।

एक समय था, बहुत पहले की बात नहीं, जब मनुष्य की आध्यात्मिक अभीप्सा दुनिया की सब चीज़ों से निर्लिप्त, जीवन से पलायन या ठीक-ठीक कहें तो युद्ध से कतराने के लिए, संघर्ष से ऊपर उठने के लिए, सारे प्रयास से बचने के लिए एक नीरव, निष्क्रिय शान्ति की ओर मुड़ी हुई थी। यह एक आध्यात्मिक शान्ति थी जिसमें सब तनाव, संघर्ष और प्रयासों की समाप्ति के साथ-साथ सब तरह के दुःख-कष्ट भी समाप्त हो जाते थे और आध्यात्मिक एवं दिव्य जीवन के लिए इसे ही सच्ची और एकमात्र पहचान माना जाता था। इसे ही भागवत कृपा, भागवत सहायता, भागवत हस्तक्षेप समझा जाता था। और अब भी वेदना, तनाव, अति तनाव के इस युग में भी, सब सहायताओं में यह परम शान्ति ही सबसे अच्छी तरह ग्रहण की जाती है और स्वागत-सत्कार पाती है। यही वह सुख है जिसकी माँग की जाती है, जिसकी आशा की जाती है, अभी तक अनेकों के लिए यही भागवत हस्तक्षेप और भागवत कृपा का सच्चा संकेत है।

वास्तव में, व्यक्ति चाहे कुछ भी पाना चाहे, उसे आरम्भ इस पूर्ण और निर्विकार शान्ति की स्थापना से ही करना चाहिये; यही वह आधार है जिस पर से मनुष्य को काम करना है; लेकिन यदि कोई ऐकान्तिक, निजी, अहंजन्य मुक्ति के ही सपने न लेता हो तो वह इसी से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। भागवत कृपा का एक दूसरा पहलू भी है—प्रगति का पहलू, जो सब बाधाओं पर विजयी होगा, वह पहलू जो मानवजाति को नयी उपलब्धि की ओर आगे बढ़ायेगा, एक नयी दुनिया के द्वार खोल देगा और केवल इने-गिने लोगों के लिए ही इस दिव्य उपलब्धि से लाभ उठाना सम्भव न बनायेगा, बल्कि उनके प्रभाव, दृष्टान्त और बल द्वारा शेष मानवजाति के लिए भी नयी और अधिक अच्छी अवस्थाएँ सम्भव बना देगा।

यह भविष्य में उपलब्धि के मार्ग को, उन सम्भावनाओं को, जो पहले देखी जा चुकी हैं, खोल देती है, जब मानवजाति का एक पूरा भाग, वह समूचा भाग जो नयी शक्तियों की ओर सचेतन या अचेतन रूप से खुल गया है, एक उच्चतर, अधिक सामञ्जस्यमय, पूर्णतर जीवन की ओर उठाया जायेगा...। यदि व्यक्तिगत रूपान्तर सदा अनुज्ञेय या सम्भव न हो, फिर भी समूह का एक तरह का उन्नयन, सच्चा सामञ्जस्य होगा जो नयी व्यवस्था और नये सामञ्जस्य की स्थापना को सम्भव बना देगा, और वर्तमान अव्यवस्था की यातनाओं और संघर्षों को दूर करके उनकी जगह समष्टि के सामञ्जस्यमय कार्य के लिए व्यवस्था ला देगा।

जीवन में मन के हस्तक्षेप से जो विकार, कुरूपता, और विकृतियों की राशि जमा हो गयी, जिन्होंने दुःख-कष्ट, नैतिक दारिद्र्य एवं कुत्सित और घृणित दुःखों के पूरे प्रदेश को बढ़ा दिया है, जिसने मनुष्य-जीवन के एक पूरे भाग को ऐसा भयावह बना दिया है, उस सबको अन्य विपरीत साधनों द्वारा दूर करने के लिए अन्य परिणाम प्रवृत्त होंगे। सचमुच, उसे दूर होना ही चाहिये। यही वह चीज़ है जो कई बातों में मानवजाति को पशु-जीवन की सरलता और सब कुछ के बावजूद नैसर्गिक सहजता और सामञ्जस्य की तुलना में अनन्तगुना बदतर बनाती है। पशुओं का दुःख-कष्ट कभी भी इतना दयनीय व कुत्सित नहीं होता है जितना कि मानवजाति के एक पूरे भाग का, जो एकमात्र अहंमूलक आवश्यकताओं के काम में लगी मनोवृत्ति द्वारा

विकृत हो गयी है।

हमें या तो ऊपर उठना होगा, 'ज्योति' और 'सामञ्जस्य' में छलौंग लगानी होगी, या फिर स्वस्थ और अविकृत पशु-जीवन की सरलता में वापस जा गिरना होगा।

१९५८ में, इस वार्तालाप के प्रथम प्रकाशन के समय श्रीमाँ ने नयी शक्तियों के प्रभाव से मानवजाति के एक पूरे भाग के "उन्नयन" के बारे में निम्न अंश जोड़ा :

लेकिन जो ऊपर नहीं उठाये जा सकते, जो प्रगति करने से इन्कार करते हैं, वे अपने-आप ही मानसिक चेतना के उपयोग को खो बैठेंगे और फिर से मानव से निम्नतर स्तर पर उतर आयेंगे।

मैं तुम्हें अपनी एक अनुभूति सुनाती हूँ जो तुम्हें इसे ठीक तरह समझने में सहायता देगी। यह अनुभूति ३ फ़रवरी की अतिमानसिक अनुभूति के कुछ समय बाद हुई थी और मैं तब भी उस अवस्था में थी जब पार्थिव जगत् की चीज़ें बहुत दूर और बेतुकी मालूम होती थीं। एक दर्शनार्थी दल ने मुझसे मेरे पास आने की अनुमति माँगी थी और एक शाम वे खेल के मैदान में आये। वे धनी थे, यानी, उनके पास जीवन-निर्वाह के लिए जितना चाहिये उससे ज़्यादा धन था। उनमें एक महिला थी जो साड़ी पहने थी; वह बड़ी स्थूलकाय थी, उसने साड़ी इस तरह लपेट रखी थी कि सारा शरीर छिपा रह सके। जब उसने मेरा आशीर्वाद पाने के लिए झुकना चाहा तो साड़ी का एक पल्ला खिसक गया और शरीर का एक अंग खुल गया, एक नंगा पेट—एक मोटा बड़ा पेट। मुझे काफ़ी धक्का लगा...। ऐसे स्थूलकाय लोग होते हैं जिनमें कुछ घृणास्पद नहीं होता, पर इसमें मैंने सहसा विकृति और सड़ान्ध देखी जिसे वह पेट अपने में छिपाये था, वह एक विशाल फोड़े-जैसा था जो लोभ, पाप, कुत्सित रुचि और ओछी चाह को प्रकट करता था, जो घटियापन में और सबसे बढ़ कर, विकृति में ऐसी तृप्ति पाता था जैसी कोई जानवर भी नहीं चाहेगा। मैंने क्षुद्रतम बुभुक्षा की सेवा में रत पतित, कुत्सित मन की विकृति को देखा। तब एकाएक मेरे अन्दर से एक वैदिक प्रार्थना-सी फूट पड़ी : "हे प्रभो, यही है वह जिसे मिटना चाहिये!"

हम अच्छी तरह समझते हैं कि भौतिक दुःख-दैन्य को, इस दुनिया की सम्पत्तियों के विषम वितरण को बदला जा सकता है, हम आर्थिक और सामाजिक हल की कल्पना करते हैं जो इसका उपचार कर सकती है, लेकिन वह दूसरी दुर्दशा, मानसिक दुर्दशा, प्राणिक विकृति नहीं बदली जा सकती, वह बदलना नहीं चाहती। और जो लोग मानवता के इस वर्ग में आते हैं वे पहले से ही विघटन के लिए दण्डित हैं।

आदि-पाप का अर्थ यही है : एक विकृति जिसका उद्भव मन के साथ-साथ हुआ।

मानवजाति का वह भाग, मानव चेतना का वह भाग, जिसमें अतिमानस के साथ एकाकार होने की और स्वयं को मुक्त करने की क्षमता है, वह पूर्णतः रूपान्तरित हो जायेगा—वह एक भावी सत्य की ओर बढ़ रहा है जो अभी बाह्य रूप में अभिव्यक्त नहीं हुआ है; वह भाग जो

‘प्रकृति’ के, पशु की सरलता के बिलकुल निकट है, ‘प्रकृति’ में पुनः घुल-मिल जायेगा और घनिष्ठ रूप से आत्मसात् कर लिया जायेगा। लेकिन मानव चेतना का वह कलुषित भाग उन्मूलित हो जायेगा जो अपने मन के गलत उपयोग के कारण विकृति की ओर ले जाता है।

इस तरह की मानवता एक ऐसे निष्फल प्रयास का अंग है—जिसका विलयन होना चाहिये—जैसे दूसरी आदिम जातियाँ विश्व के इतिहास-क्रम में लुप्त हो गयीं।

प्राचीन काल के कुछ पैगम्बरों को ऐसा भविष्य-सूचक अन्तर्दर्शन हुआ था, पर जैसा अक्सर होता आया है, चीजें गड़मड़ हो गयीं, और उन्हें भविष्य-सूचक अन्तर्दर्शन के साथ-साथ अतिमानसिक जगत् का अन्तर्दर्शन नहीं हुआ जो मानवता के उस भाग को उठाने आयेगा जो स्वीकार करता है और इस भौतिक जगत् को रूपान्तरित कर देगा। अतः, उन लोगों को जो ऐसी अवस्था में, मानवीय चेतना के इस विकृत भाग में जन्मे हैं, आशा बँधाने के लिए उन्होंने श्रद्धा द्वारा मुक्ति की शिक्षा दी : जिन्हें जड़ में भगवान् की यज्ञाहुति पर श्रद्धा है उनका अपने-आप दूसरे जगत् में केवल श्रद्धा द्वारा उद्धार हो जायेगा—बिना समझे, बिना बुद्धि के। उन्होंने अतिमानसिक जगत् को नहीं देखा, और न ही जड़ में अन्तर्लयन की भगवान् की उदात्त ‘आहुति’ को देखा है जिसकी पराकाष्ठा होगी स्वयं जड़ में भगवान् की पूर्ण अभिव्यक्ति।

—‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ९, पृ. ३२६-३३०

श्रीअरविन्द के उत्तर

(७५)

मौन धारण करने की अपनी जो इच्छा मैंने आपके सामने प्रकट की थी (मैंने अब तक यह विचार छोड़ा नहीं है!) उसके बारे में आपने लिखा था कि “एक वास्तविक खतरा है... आत्मपरक प्रभावों और कल्पनाओं का शिकार बन जाना और सच्चाई की उस पकड़ से छूट जाना जो कार्य में और दूसरों के साथ सम्पर्क बनाये रखने में मदद करती है।” ये आत्मपरक प्रभाव कौन-से हैं? क्या ये उच्चतर अनुभूतियाँ हैं, या इससे उनमें से किसी एक के साथ चिपक जाने की सम्भावना पैदा हो जाती है, या फिर व्यक्ति किसी अहंकारी गति में जा गिरता है, जैसा कि ‘ज’ या दूसरों के साथ हुआ?

मेरा मतलब उसी से है जैसा ‘ज’ और ‘ब’, ‘न’ तथा दूसरों के साथ हुआ। उच्चतर अनुभूतियाँ किसी को चोट नहीं पहुँचातीं—प्रश्न है कि उच्चतर से तुम्हारा मतलब क्या है? उदाहरण के लिए ‘ब’ ने सोचा कि उसकी अनुभूतियाँ स्वयं उच्चतम सत्य हैं—मैंने उससे कहा कि वे सब कल्पनाएँ थीं, और परिणाम यह हुआ कि वह मुझ पर भड़क उठा। जब मन या

प्राण किसी विचार या सुझाव को पकड़ कर उसे किसी अनुभव या भावना में बदल देते हैं, और चूँकि उसमें शक्तियों, एक प्रकार के आनन्द और बल इत्यादि का भी तेज़ बहाव होता है तो ऐसा लगता है मानों तुम्हें उच्चतर अनुभूतियाँ हो रही हैं, लेकिन वे बनावटी होती हैं। हर तरह की “प्रेरणाएँ” आती हैं, अन्तर्दर्शन होते हैं, शायद “आवाज़ें” सुनायी देती हैं। इन आवाज़ों से बढ़ कर खतरनाक और कुछ नहीं है—जब मैं किसी से सुनता हूँ कि उसे कोई “आवाज़” या “वाणी” सुनायी दी तो मुझे हमेशा कुछ बेचैनी-सी महसूस होती है—हालाँकि हो सकता है कि वे सच्ची और सहायक आवाज़ें हों—और मैं कहना चाहता हूँ, “कोई आवाज़ें नहीं कृपया—शान्ति, शान्ति और रखो विवेकशील मस्तिष्क।” मैंने इन बनावटी अनुभवों, झूठी प्रेरणाओं, झूठी वाणियों के बारे में अपने पत्र में संकेत किया था जिनमें सैकड़ों योगी प्रवेश करते हैं और कुछ तो उनमें से कभी बाहर ही नहीं निकल पाते। अगर किसी के अन्दर प्रबल, स्पष्ट मस्तिष्क और एक तरह का आध्यात्मिक सन्देह हो तो वह उनसे बाहर निकल सकता है, लेकिन ‘ब या ‘न’ जैसे लोग—जिनमें विभेद करने की शक्ति नहीं होती—इसमें खो जाते हैं। विशेषकर उनमें अहंकार घुस जाता है और वह उन्हें उनकी भव्य (?) स्थिति से इतना आसक्त करा देता है कि वे उससे बाहर निकलने से एकदम इन्कार कर बैठते हैं। एकान्तवास में चले जाने की प्रवृत्ति इस तरह की क्रिया को खुल खेलने देती है, क्योंकि इससे व्यक्ति पूरी तरह से अपने छोटे-से घोघे में ही जीने लगता है, और तब अगर उसके अन्दर की सहज विवेकशक्ति न जागे तो वह बस अपने में ही फँसा रहता है, और अगर विवेकशक्ति मज़बूत न हो तब? निस्सन्देह, अहंकार इन आत्मपरक मिथ्यात्वों का प्रबल समर्थक होता है, लेकिन दूसरे सहारे भी लिये जा सकते हैं। काम करना और दूसरों के साथ मेलजोल भी रखना चाहिये, हाँ, लक्ष्य तुम्हारा स्पष्ट हो, और एकदम से मौन धारण करने की अपेक्षा एक ठीक सन्तुलन होना चाहिये। मैंने देखा है कि जो लोग इस तरह आत्मपरक जीवन जीते हैं, वे एकदम एकान्त में चले जाने का आग्रह करते हैं। यही कारण है कि सामान्यतः मैं यह पसन्द करता हूँ कि साधक पूरी तरह से एकान्तवास का जीवन न अपना कर, मौन तथा क्रिया में, अन्दर और बाहर, दोनों जीवनों में एक प्रकार का धैर्य तथा सन्तुलन बनाये रखे।

२३ फ़रवरी १९३५

कल एक तरफ़ तो मैंने अपने-आपको ‘च’ के साथ कंक्रीट की ढलाई के काम में पूरी तरह से लगा दिया; और दूसरी तरफ़, जैसे ही मैं थोड़ी देर के लिए बाहर निकला, मैंने अपने-आपको ‘इ’ के बारे में विचारों और भावनाओं से घिरा पाया—वह वहाँ कैसा अनुभव करेगी, किन-किन मुसीबतों का उसे सामना करना होगा इत्यादि। इसका यह मतलब हुआ कि सचेतन या अर्ध-चेतन रूप से इतने दिनों तक मैं भगवान् की ओर मुड़ने की जगह अपना स्नेह उस पर न्योछावर कर रहा था। अपनी साधना में मैं यहीं पहुँचा हूँ, और मैं स्वयं दूसरों को शिक्षा देने और

उनका सलाहकार बनने का स्वाँग रचने की कोशिश कर रहा हूँ!

हाँ, व्यक्ति किसी अच्छी सलाह का पालन न करते हुए भी उसके बारे में परामर्श दे सकता है—एक पुरानी कहावत है, “मेरे उपदेशों का पालन करो, मेरे अभ्यासों का नहीं।” गम्भीरता से देखा जाये तो व्यक्ति के अन्दर अलग-अलग व्यक्तित्व होते हैं और वह व्यक्तित्व जो परामर्श देने या सहायता करने के लिए उत्सुक होता है, बहुत सच्चा हो सकता है। मुझे याद है, उस ज़माने में जब मेरे अपने अन्दर निजी संघर्ष और कठिनाइयाँ चल रही थीं, बाहर से लोग मेरे पास सलाह इत्यादि लेने आया करते थे। जब मैं स्याह उदासी में डूबा हुआ था और असहायता और असफलता के भाव से पूरी तरह घिरा हुआ हुआ था, मुझे अपनी राह नहीं सूझती थी, फिर भी जब मैं बोलता तो मेरी वाणी में दृढ़ विश्वास होता, अन्दर का भाव ज़रा भी बाहर नहीं झलकता। क्या वह कपट था? मैं नहीं मानता, मेरे अन्दर जो बोलता था वह अपने वचनों में सच्चा था। अपने-आपको भगवान् की तरफ़ एकदम पूरी तरह से मोड़ देना कोई आसान काम नहीं है, और अगर इसमें समय लगे और दूसरी गतियाँ रास्ते में बाधा बनती रहें फिर भी व्यक्ति को हतोत्साह नहीं होना चाहिये। उसे उनके प्रति सचेत होकर, उन्हें सुधार कर, आगे बढ़ जाना चाहिये—*अनिर्विण्णचेतसा*।

हर काम से पीछे हट जाने के समय “बिना किसी नियन्त्रण के अपनी आत्मपरक सत्ता” में जीना—क्या ऐसा नहीं हो सकता कि जब व्यक्ति काम से हाथ खींच ले तब वह ज़्यादा ‘अपने’ अन्दर रहना सीख ले? मुझे पता नहीं, शायद अपने मामले में मैं किसी बीच के स्तर में ही डूब जाऊँ! मैं समझ सकता हूँ कि जब कोई बहुत प्रसिद्ध हो, बहुत शक्तिशाली हो तो वह आसानी से इन चीज़ों का शिकार बन सकता है। लेकिन मैं चकाचौंध करने वाली अनुभूतियों के बजाय पहले आत्म-निरीक्षण के कार्य से आरम्भ करना चाहूँगा, और शायद मुझे ऐसी कोई चमकदार अनुभूतियाँ न भी हों। निस्सन्देह, मैं इसके बारे में बहुत आशावादी नहीं हो सकता क्योंकि मैं शक्तियों के उस तेज़ प्रवाह के बारे में कुछ भी नहीं जानता जो आ सकता है।

निस्सन्देह, अगर तुम अपने ‘स्व’ में निवास करना चाहो तो यह पीछे हटने का उचित कारण है, अपने अन्दर निवास करने से उच्चतर अनुभूतियाँ आती हैं जो निश्चय ही हानिकर नहीं, लाभकारी होती हैं। मैंने जो लिखा वह बस यह समझाने के लिए था कि अगर तुम पूरी तरह से औरों से कट-छूट कर, एकदम निवृत्ति का जीवन बिताने लगे तो उससे कितने ख़तरे पैदा हो सकते हैं और यह कि ‘ब’, ‘न’ तथा दूसरों के लिए वे कितने हानिकर हो गये थे। ‘अ’ की तरह कुछ हैं जो उससे लाभ भी उठाते हैं। सब मिला कर यह व्यक्ति के स्वभाव, उसके मनोभाव, उसके लक्ष्य और निश्चल-नीरवता के समय उसकी आन्तरिक स्थिरता पर निर्भर करता है।

मैं 'द' के साथ घण्टे-भर तक बातें करता रहा जिसमें हमने 'ज' के बारे में भी अपने विचारों का आदान-प्रदान किया। मैंने देखा कि उसके विचार मेरे विचारों से मिलते थे: जब हम निष्क्रिय भी होते हैं उसका हम पर अपना हुक्म चलाने की कोशिश करना और हमें "लताड़ देना", या हमें अपनी महत्वाकांक्षा का प्यादा बना देना, उसके अस्वाभाविक दम्भ और प्राणिक चञ्चलता से हमारा पाला पड़ना— उसकी ये सभी चीज़ें हम दोनों के विचारों के साथ मेल खा रही थीं। सन्देह बस इतना ही है कि क्या वह यह सब सचेतन रूप से करता है या फिर उसका स्वभाव ही ऐसा है। मुझे लगता है कि वह बहुत सचेतन रूप से क्रिया करता है, क्योंकि उसके पास बहुत-सी जानकारीयों होती हैं। खासकर मुझे उसका मेरी उन चिट्ठियों के बारे में पूछना बिलकुल नहीं सुहाता जो आपके यहाँ से आती हैं। कुछ समय के लिए उसका साथ ठीक है, लेकिन सारे समय उसका मेरे साथ बने रहना मेरे लिए असह्य हो जाता है, और रोज़-रोज़ ३-४ घण्टे बातें करने में क्या धरा है भला?

मेरे ख़याल से इस उमर में अब उसका बातूनी न होना और अपनी इच्छा दूसरों पर न लादना मुश्किल होगा। लेकिन ३-४ घण्टे बतियाना, निश्चय ही बड़ी बेतुकी बात है!

२४ फ़रवरी १९३५

सारा वातावरण लोगों के यहाँ से चले जाने के विचारों से भरा हुआ है। लेकिन मुझे 'इ' का चला जाना बहुत अखर रहा है। जैसे ही मैं 'इ' के बारे में सोचता हूँ, मुझे महसूस होता है कि वह रो रही है और मैं भी वही करना चाहता हूँ। मैंने देखा कि आँसुओं से भरी वह ज़ीने पर बैठी हुई थी—मेरे लिए अन्यथा करना कैसे सम्भव है भला?

हाँ, उसके लिए यहाँ से जाना निस्सन्देह बहुत कठिन होगा—लेकिन उसे इसे अपने आध्यात्मिक जीवन और योग में अपनी सच्ची इच्छा की कसौटी के रूप में लेना चाहिये। जब तक उसके घरवाले उसे यहाँ वापस आने की अनुमति न दे दें उसे उन पर बोझ बन कर उनका जीवन दुश्धार कर देना चाहिये।

२५ फ़रवरी १९३५

'क' ने मुझसे एक प्रश्न पूछा जो सचमुच मेरे पल्ले बिलकुल न पड़ा: "अपनी साधना में तुम कैसी मानसिक समझ, प्रक्रिया या मनोवृत्ति रखते हो?"

मेरे ख़याल से वह यह जानना चाहता था कि अनुभूतियाँ इत्यादि पाने के लिए तुम कौन-सी

मानसिक प्रक्रिया अपनाते थे?

‘इ’ के चले जाने से मेरे अन्दर जो प्रचण्ड भावना उठ रही है उसके पीछे क्या कारण है? क्या यह केवल आसक्ति और असभ्य तथा निरर्थक भावना है? मुझे मालूम नहीं कि क्या इसमें रत्ती-भर भी सच्चाई है? लेकिन कल जब मैं श्रीमाँ पर एकाग्र होने की कोशिश कर रहा था तो मुझे ऐसा अनुभव हुआ मानों श्रीमाँ की चेतना से किसी चीज़ को ज़बरदस्ती उखाड़ कर निकाल दिया गया हो और तब मेरे अन्दर की रुलाई और भी फूटने लगी।

वह स्वयं उसकी भावना का तुम्हारे ऊपर प्रतिबिम्ब होगा। उसके जाने का यह मतलब कतई नहीं है कि उसे श्रीमाँ की चेतना से उखाड़ बाहर कर दिया गया है—ऐसा केवल तभी घट सकता है जब वह स्वयं बाहर जाना चाहे।

२६ फ़रवरी १९३५

जब ‘अ’ माँ से मिलने गया, मैं आशा कर रहा था कि माँ संगीत बजायेंगी। बहरहाल, ‘क्ष’ की वहाँ लगातार बकबक सुनने से आयी निराशा के बावजूद मैंने अपने अन्दर एक असामान्य शान्ति महसूस की। मैंने देखा है कि जब ‘अ’ श्रीमाँ के पास जाता है तो वातावरण में हमेशा कोई शक्तिशाली चीज़ होती है। उसके जैसे जो लोग बाहर की दुनिया में नाम कमा चुके हैं वे यहाँ रह रहे मेरे जैसे तुच्छ लोगों की अपेक्षा अधिक महान् साधना करने में सक्षम प्रतीत होते हैं। निश्चित रूप से कालेलकर या ‘अ’ अथवा ‘र’ हमारे जैसे नगण्य व्यक्तियों की अपेक्षा चीज़ों को ज़्यादा जल्दी पकड़ लेते हैं। या फिर यहाँ आने से पहले अपने पिछले जन्मों में उन्होंने अपने आन्तरिक जीवन का विकास कर लिया है ताकि यहाँ उनके लिए साधना आसान बन जाये?

मुझे नहीं लगता कि बाहरी जगत् की महानता पर यह चीज़ निर्भर करती है। यहाँ कई ऐसे हैं जिनकी वहाँ ख्याति है, लेकिन फिर भी इतनी चर्चा में नहीं रहते। तुम्हारी दूसरी व्याख्या ज़्यादा सही है। और यह भी सच है कि जब ‘अ’ यहाँ होता है तब संगीत के लिए उतरी अभीप्सा महानतर होती है।

‘म’ ने मेरी निवृत्ति के बारे में जान लिया है। दरअसल, मैंने ही उसे इसके बारे में बतलाया था, लेकिन उसने इसे मज़ाक के तौर पर लिया था। तो अब उनके पास गप लगाने के लिए कुछ मसाला मिल गया। उसका खुद का अनुभव यह है

कि हम तभी सबसे अलग-थलग रहना चाहते हैं जब हम काम के द्वारा श्रीमाँ की निकटता का ज़रा भी अनुभव नहीं कर पाते या जब हम किसी चीज़ को सहने में अपने-आपको असमर्थ पाते हैं। मैंने उससे कहा कि हर एक व्यक्ति का अलग हटने या मौन धारण करने का अपना भिन्न-भिन्न उद्देश्य होता है। मैंने उसे निवृत्त होने से आयी हानियों के बारे में भी बतलाया, तब उसने 'प' की चर्चा की जिसने उसे अलग-थलग रहने से मना किया था। तब क्या सबसे अलग रहने का कोई लाभ नहीं, या इस समस्या का क्या कोई ऐसा पहलू नहीं है जो आनन्दित कर दे?

निवृत्त होने का आवेग अपने अन्दर एकाग्र होने की किसी तीव्र इच्छा से आता है—लेकिन उसमें भी कारण भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। कुछ मामलों में माँ के प्रभाव से अपने-आपको हटा लेने (प्रणाम के लिए आना, ध्यान में जाना इत्यादि।) और अपनी ही सनकों के अनुसार जीने की कामना थी, उदाहरण के लिए 'ज', 'ब' के जैसे लोग, और इनमें एक तरह की श्रेष्ठता का भाव भी रहता है = “मैं इतना महान् योगी हूँ कि मेरे लिए इन सब चीज़ों के लिए जाने की ज़रूरत नहीं”। दूसरे मामलों में अलग रहने की एक अस्वस्थ मनोवृत्ति होती है, लेकिन ऐसा तब होता है जब दिमागी सन्तुलन बिगड़ा हुआ हो ('ड' के मामले में) या काम में किसी ग़लत प्रभाव-तले व्यक्ति आ गया हो ('न' के मामले में)। मेरे ख़याल से 'म' इसी का उल्लेख कर रहा था। लेकिन ऐसे लोग भी हैं जो एकाग्रचित्त रहना चाहते हैं या जो अपना समय बहिर्मुखता में बिताने की इच्छा नहीं रखते (जैसा कि 'अ' या 'ख' ने अपने निवृत्ति-काल में किया था)। इसलिए सभी को एक ही श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

२७ फ़रवरी १९३५

क्या किसी मध्यवर्ती स्तर पर अप्सराओं का लोक है? अगर मुझे निवृत्त होना हो और अगर मेरे सामने कोई ऐसा लोक खुल जाये तो मैं वहाँ जाने से स्वयं को रोक नहीं पाऊँगा। और शायद मैं अप्सराओं से आध्यात्मिकता की ओर मुड़ने का निवेदन कर बैठूँ, तब तो मैं प्राणिक जगत् को बदलने के अपने 'मिशन' में वहाँ अपने-आपको पूरी तरह खो बैठूँगा! लेकिन शायद यह चीज़ महत्त्वाकांक्षा, गर्व, अहंकार या शक्ति के जितनी खतरनाक नहीं है।

हाँ, ऐसा होना बहुत सम्भव है—बहरहाल, मुझे मालूम नहीं कि यहाँ कभी कोई अप्सराओं के सम्पर्क में आया हो; सामान्यतः, उनसे कम आकर्षक प्राणिक लोक की नारियाँ साधिकाओं या रिश्तेदारों इत्यादि के रूप में आकर लुभाती हैं। यहाँ के साधक प्राचीन ऋषियों की भाँति इतने सौन्दर्यपरक नहीं जान पड़ते। हाँ, अगर उनसे उनका सम्पर्क हो जाये तो बड़ा संकट पैदा हो सकता है। संकट की दृष्टि से सेक्स (गुह्य) महत्त्वाकांक्षा इत्यादि के समान स्तर पर खड़ा होता

है, फ़र्क बस इतना होता है कि वह इतना प्रत्यक्ष नहीं होता, यानी, विरोधी शक्तियाँ आध्यात्मिक जीवन में उसे इतने प्रकट रूप में सामने नहीं रखतीं। शुरू-शुरू में 'ह' इत्यादि के साथ उन्होंने यह चालाकी अधिक की थी।

मेरा एक और भी विचार है। शायद निश्चल-नीरवता तथा निवृत्ति में कोई उज्ज्वल (सचमुच आध्यात्मिक) अनुभूति हो जाये "अचानक एक महान् प्रदीप्ति द्वारा", जो सम्भवतः मेरे अन्दर की कुछ गाँठों को खोल दे। लेकिन शायद इसे "असंख्य छोटे-छोटे प्रयासों की सहायता और ऐसी जागरूकता के साथ करना होगा जो कभी क्षण-भर के लिए भी ढीली नहीं पड़ती।" वह कितना धीमा और दुःखदायी होगा; अब चमत्कार के दिन तो रहे ही नहीं!

वह दोनों में से किसी भी तरीके से आ सकती है—इतना ही है कि फ़िलहाल जड़-भौतिक प्रकृति की धीमी प्रक्रिया द्वारा ये सारी कठिनाइयाँ आ रही हैं। लेकिन मेरे विचार से ऐसा ज़्यादा दिन नहीं टिकेगा।

२८ फ़रवरी १९३५

एक सपना : मैं किसी के साथ ऊपर एक कमरे में बैठा था। खिड़की के पास पाड़ बँधा हुआ था जिस पर कुछ लड़के चल रहे थे। साइकिल हाउस के पास वाले कोने के घर में (जिसे हमने किराये पर लिया है) रहने वाले परिवार का एक लड़का भी वहाँ से गुज़रा, लौट कर वह एक दवात लिये आया और हम पर स्याही छिड़कने लगा। मेरा साथी चुप रहा, लेकिन मैंने उसे नीचे गिराया, उसे कमरे में घसीट कर लाया और मैंने उसकी मरम्मत कर डाली। फिर मैंने उसे नीचे धकेल दिया और घर से बाहर निकाल दिया। वह विकलांग था और प्रतिरोध भी नहीं कर पा रहा था। मैंने वह सब बहुत चुपचाप, यह जानते हुए भी कि इस सबका परिणाम क्या होगा, सचेतन होकर किया। लेकिन चूँकि यह वही लड़का था जो हमें बेहद तंग किया करता था जब हम उसके घर के पास रहा करते थे, तो मैंने उसे सबक सिखाने के लिए यह अवसर नहीं छोड़ा।

मुझे पता लगा कि अब वह घर हमारे हाथ में आ गया है। कैसी अजीब बात है कि वह लड़का भी आज ही मेरे सपने में आया। शायद पुराने किरायेदारों का वातावरण मकान के चारों तरफ़ मँडरा रहा हो।

हमारे घर ले लेने से या तो तुम उस वातावरण से जुड़ गये या कुछ प्राणिक बेताल वहाँ धमा-चौकड़ी मचा रहे हैं।

आज मैं क्या लिखूँ? मुझे 'ख' की तरह लिखना चाहिये, "मैं खुश हूँ।" लेकिन मेरी समझ में नहीं आता कि खुशी मुझे खुश करती क्यों नहीं दीखती—खुशी के बारे में जैसे मैं सन्देही हूँ। क्या यह सन्तुष्टि है या शान्ति का आनन्द या कठिनाई से मुक्त होने का आनन्द या फिर आत्म-सन्तुष्टि स्थिति और तमस्?

सामान्य अर्थ में खुशी कारण या बिना कारण के प्राण की सूर्यालोकित अवस्था है। सन्तोष खुशी से कम है—शान्ति का आनन्द या कठिनाई से मुक्त होना वास्तव में हर्षयुक्त शान्ति है। यह ज़रूरी नहीं है कि खुशी आत्म-सन्तुष्टि अवस्था या तमस् हो, न ही इसे ऐसा होना चाहिये, बल्कि व्यक्ति खुशी और अभीप्सा को जोड़ सकता है। निस्सन्देह, तमस् की एक खुश अवस्था हो सकती है, लेकिन अधिकतर लोग बहुत समय तक उससे सन्तुष्ट नहीं रहते, वे और कुछ पाना चाहते हैं। ऐसे योगी हैं जो एक प्रसन्न, निश्चल-नीरव स्थिरता से सन्तुष्ट रहते हैं, लेकिन वह इसलिए कि प्रसन्नता 'आनन्द' का एक रूप है और अचलता या स्थिरता में वे 'आत्मा' और उसकी शाश्वत शान्ति को अनुभव करते हैं और इसके अतिरिक्त वे और कुछ नहीं चाहते।

रही बात 'ख' की, तो वह प्रायः लिखा करता है, "अशान्ति कई बार मुझ पर धावा बोलती है, लेकिन मैं खुश हूँ।" तो उसकी खुशी कठिनाई से मुक्ति या शान्ति के हर्ष से अलग कोई चीज़ होगी!

१ मार्च १९३५

एक सपने में 'ज' उस कमरे में आया जहाँ मैं था। मैं उसी के बारे में उसे कड़वी बातें कहने लगा, वह उदासी में डूब गया और नाराज़ हो गया। वह कमरा छोड़ना चाहता था और मैंने उसके लिए कोई अच्छी कामना नहीं की। मैंने दोबारा उससे बातचीत की, इस बार मैं उससे प्रायः नाराज़ हो उठा था। वह भी गुस्से में आ गया और मुझसे लड़ने के लिए आगे बढ़ा। फिर हमने कुछ समझौता कर लिया, लेकिन प्राण में असहमति से सारा वातावरण भरा हुआ था। बाद में, जागने पर, मैंने देखा कि सपने में 'ज' का चेहरा-मोहरा मेरे एक दोस्त से काफ़ी मिलता-जुलता था जिसका १९२२ में देहान्त हो चुका था।

मेरे खयाल से वह सचमुच 'ज' नहीं था, लेकिन प्राणिक जगत् में तुम्हारा किसी के साथ कुछ हुआ होगा और वही ऐसे रूप में उभर आया जिससे तुम्हारा मन परिचित था।

'ब' की कक्षा से निकलने के बाद मैंने अपनी चेतना में एक अजीब गिरावट का अनुभव किया। मुझे मालूम नहीं कि क्या दूसरों के साथ कोई प्राणिक आदान-प्रदान हुआ। मुझे ऐसा लगने लगा मानों सब कुछ मेरे लिए विजातीय हो। यह सन्देह

होने पर कि इसकी वजह दूसरों के साथ सम्पर्क रहा हो, मैं श्रीमाँ की पुस्तक “वार्तालाप” पढ़ने लगा।

व्यक्तिगत वातावरण की बजाय एक सामूहिक वातावरण, जैसा कि कक्षा में होता है, अक्सर गिरावट में प्रभावी होता है, हाँ, अगर कोई व्यक्ति ही उदास या उदासी में डुबोने वाला हो तो व्यक्तिगत वातावरण भी प्रभावी हो सकता है।

२ मार्च १९३५

आज सवेरे मेरा सचमुच भौतिक पतन हुआ। मेरी नींद सवेरे ४.३० बजे खुली, बत्ती जलाने के लिए मैंने अपना हाथ बढ़ाया। मैं यह भूल गया था कि मेरी खाट दीवार के पास नहीं थी बल्कि कमरे के बीचोबीच थी। मैंने अपना हाथ और लम्बाया, तब तक खींचता रहा जब तक कि बिस्तर से नीचे नहीं गिर पड़ा! चूँकि हँसने के लिए और कोई नहीं था, अपने पतन पर अकेले मुझे ही हँसने पर विवश होना पड़ा।

यह... मैं भूल गया, क्या कहते हैं उसे—अणिमा? मेरा मतलब है, इच्छानुसार अपने-आपको लम्बा या छोटा कर लेना। अगर तुम्हारे अन्दर वह शक्ति होती तो तुम आसानी से तब तक अपने हाथ को लम्बा करते चले जा सकते थे जब तक कि बिजली के बटन तक न पहुँच जाते और उसके बाद उसे छोटा कर, सामान्य आकार में ले आते—तब कोई पतन न होता। कई सापेक्षिक वैज्ञानिक अनुमानों के अनुसार व्यक्ति इस तरह छोटा और लम्बा होता ही रहता है, लेकिन चूँकि सभी अनुपात में छोटे और लम्बे होते रहते हैं, हम मानव इतने भाग्यशाली हैं कि अनुपात से अधिक घटने या बढ़ने में हम असमर्थ होते हैं।

सुबह से दोपहर तक शान्ति तथा प्रायः एक तरह की अचञ्चलता का निरन्तर प्रवाह बहता रहा। कभी-कभी अस्पष्ट विचारों और स्मृतियों ने घुसने की कोशिश की, लेकिन वे बाहर ही रहीं, मानों वे वहाँ भूसा बनी पड़ी हों। शरीर में पत्थर के जैसी भावना थी।

अच्छा है। पत्थर की-सी भावना सामान्यतः शरीर के कोषाणुओं में बसी उस स्थिरता की पहली छाप होती है जो ‘शान्ति’ के अवतरण के साथ-साथ आती है।

किसी भी सच्ची साधना को करने से पहले व्यक्ति को धीरज और लगन जैसी चीज़ें सीखनी पड़ती हैं, इन चीज़ों को तो सामान्य जीवन में भी महत्वपूर्ण समझा जाता है। और जो इन गुणों को विकसित कर लेते हैं उन्हें शायद मुसीबत का सामना

मुझसे कम करना पड़े, मैं तो उनमें फँसा ही रहता हूँ। सामान्यतः स्पष्ट दिमागवाले व्यापारी या विद्यार्थी ही इसे करने में समर्थ होते हैं।

मुझे मालूम नहीं कि इसको क्या इतनी तीव्र भाषा में रखा जा सकता है—लेकिन यह सच है कि अगर तुम अपने जीवन की इमारत इन गुणों पर खड़ी करो तो ये तुम्हें निरन्तर बढ़ती हुई स्थिरता, सन्तुलन तथा मर्यादा प्रदान करने में बहुत सहायक होते हैं। बहरहाल, यह बात शत प्रतिशत ठीक भी नहीं कही जा सकती क्योंकि मैंने बहुत विवेकपूर्ण और ठोस लोगों को भी बेहद विक्षुब्ध और असन्तुलित होते देखा है जब कि कई बार तथाकथित “कमज़ोर” ऐसी परिस्थितियों में से आराम से बाहर निकल आते हैं। हाँ, मानसिक तथा प्राणिक स्थिरता से आध्यात्मिक स्थिरता लाने में सहायता मिलती है, लेकिन वह एक ही चीज़ नहीं है।

३ मार्च १९३५

जब मैं श्रीअरविन्द की फ़ोटो को प्रणाम किये बिना ‘रिसेप्शन हॉल’ से गुज़र रहा था तो ‘म’ ने टिप्पणी की, “तुमसे ही मैंने ‘रिसेप्शन हॉल’ में प्रणाम करना सीखा है। यह सोच कर मैं हक्का-बक्का रह गया कि मेरी क्रिया कितनी संक्रामक है। मुझे कभी यह पता तक न था कि कोई मेरा इस तरह से अनुकरण करेगा। बहरहाल, मैंने उससे कहा, “हाँ, लेकिन काफ़ी समय से मैं खुद ही यह करना भूल गया हूँ। ‘ख’ ने एक दिन मुझसे कहा था, “तुमलोग ‘रिसेप्शन हॉल’ में प्रणाम कर वहाँ बैठते तो ज़रूर हो, लेकिन जब कुछ होता है तो अपने विद्रोह में तुम वह सब भूल जाते हो।” तब से मैंने वहाँ बैठना छोड़ दिया था। निश्चित है कि ‘म’ के जैसा दृढ़निश्चयी ऐसी टिप्पणी पर कान तक न देता। लेकिन मुझे तो यह कटाक्ष अन्दर तक बीध गया, हालाँकि ‘ख’ जैसा चाहता था कि मैं करूँ, मुझे नहीं लगता कि विद्रोह के समय मैं सचमुच भक्तिपूर्ण होना सीख गया हूँ। मुझे पता नहीं कि क्या ‘ख’ स्वयं वही नहीं करता जिसके बारे में वह परोक्ष रूप से इतनी शेखी बघार रहा है!

वह कुछ सफलता के साथ इसकी कोशिश तो कर रहा है—लेकिन जब उसने यह कहा था, उसके अन्दर ऐसी कोई चीज़ नहीं थी, तब यह उसके स्वयं भक्तिपूर्ण होने और विद्रोहों से मुक्त होने अथवा विद्रोह के समय सच्ची चीज़ को याद रख सकने की क्षमता का दावा करने की जगह मात्र आलोचना रही होगी।

मैं खुश हूँ, हालाँकि शारीरिक रूप से कुछ थका हुआ हूँ, या शायद मैं इसलिए खुश हूँ क्योंकि मैं काफ़ी थका हुआ हूँ और मेरे पास काफ़ी काम था। इसलिए, कम-से-कम आज तो खुशी के मामले में मैं ‘ख’ से होड़ ले ही सकता हूँ।

यह खुशी का वह नुसखा है जो नया नहीं है; यह 'ख' के नुसखे से ज़्यादा आसान है। और अन्ततः "खुश यद्यपि थका हुआ" सूत्र "खुश यद्यपि चिन्तित" सूत्र से कम श्रमसाध्य है!
४ मार्च १९३५

'झ' ने मुझे एक अखबार दिखलाया जिसमें कालेलकर ने कहा कि वे आश्रम में रहना नहीं चाहते थे, और यह भी कि वे गाँधीजी के साथ ही रहेंगे। मेरे खयाल से यह खदर और हिन्दी का अभाव होगा और साथ ही बिल्ली के लिए मछली के आयोजन से भी चकित होकर उन्होंने अपना चुनाव बदल दिया होगा, और शायद यह देख कर भी कि माँ कितना रेशम पहनती हैं! उन्होंने किसी से यहाँ तक कहा कि रेशम बनाने में कितने कीड़ों की बलि दी जाती है। उन्हें तो "कीटनाशी दवाइयों के निवारण की एक अन्तर्राष्ट्रीय समिति" बनानी चाहिये, जिसमें ऐसे सदस्य हों जो फ़्रांस और जापान में रेशम उत्पादन करने वाली सभी कम्पनियों के दरवाज़ों के सामने अनशन पर बैठ जायें।

यहाँ से चले जाने के बाद उन्होंने यह निर्णय लिया होगा, क्योंकि जब तक वे यहाँ थे—रेशम और मछली के आवागमन और हिन्दी तथा खदर के अभाव के बावजूद—उनकी यहाँ वापस आने की पूरी मंशा थी।

५ मार्च १९३५

—श्रीअरविन्द